प्रकाशक :
साहित्य भवन लिमिटेड,
प्रयाग ।

द्वितीय संस्करण
मूल्य २)

मुद्रक :
गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,
हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग ।

पंडित अमरनाथ झा

पूज्य गुरुदेव

पं० अमरनाथ झा, एम्० ए०, डी० लिट्

वाइस चांसलर, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

की

सेवा में

सादर समर्पित ।

अपनी बात

हिंदी नाटक-साहित्य के इतिहास मे 'प्रसाद' जी सर्वप्रथम मौलिक और प्रसिद्ध नाटककार हैं, यह बात सर्वत्र मान्य है। आधुनिक नाटककारो मे उनका स्थान भी सर्वोच्च है। उनके नाटकों मे प्राचीन और आधुनिक नाट्यशैलियो का अत्यन्त सुन्दर सम्मिश्रण तो मिलता ही है, साथ ही उनका एक आदर्श है जिसने उनकी रचनाओं को एक अपूर्व रूप दे दिया है। इस आदर्श के उपयुक्त उपकरणो का भी उनकी रचनाओ मे अभाव नहीं है। प्रस्तुत पुस्तक मे सुयोग्य लेखक ने 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' नामक तीन ऐतिहासिक नाटकों को लेकर 'प्रसाद' जी की नाट्य-कला और उनके नाटकों का कथा-संगठन चरित्र-चित्रण, अतर्द्वन्द्व, आदर्श आदि मुख्य मुख्य बातो पर सरल और सुन्दर ढ ग से विचार किया है। साहित्यिकों तथा विद्यार्थियो के लिए यह एक उत्तम और उपयोगी रचना है। अत इसका नवीन सस्करण हिंदी पाठकों के सामने रखते हुए हमे हर्ष हो रहा है।

पुरुषोत्तमदास टडन,

मंत्री,

साहित्य भवन लि०, प्रयाग।

दो शब्द

यह पुस्तक कई वर्ष पूर्व ही प्रारंभ हो चुकी थी परन्तु अनेक कारणों से अब समाप्त हो सकी है। श्री प्रसाद जी के ऊपर इधर कुछ वर्षों में ही अच्छा साहित्य प्रकाशित हो चुका है परन्तु उनके नाटकों का सम्यक् विवेचन अभी तक देखने में नहीं आया। शिलीमुखजी की "प्रसाद की नाट्यकला" बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी थी। उसके बाद भी प्रसादजी की नाटक रचना जारी रही। शिलीमुखजी ने मुख्यतः अजातशत्रु तक प्रकाशित नाटकों के आधार पर ही प्रसाद की कला का विवेचन किया है। इसलिए बाद में प्रकाशित दो महत्वपूर्ण नाटकों की आलोचना उनकी पुस्तक में नहीं आ सकी है। प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य शिलीमुखजी के कार्य को आगे बढ़ाना ही है।

दो शब्द पुस्तक के नामकरण पर निवेदन करना आवश्यक है। पुस्तक का नाम "प्रसाद के तीन ऐतिहासिक नाटक" रखा गया है यद्यपि इसमें इन नाटकों की आलोचना की अपेक्षा लेखक का उद्देश्य प्रसाद की नाट्यकला का अध्ययन अधिक रहा है। स्थानाभाव के कारण प्रसाद के केवल तीन नाटकों और उनमें आये हुए मुख्य चरित्रों का ही विवेचन हो सका है, परन्तु इस सीमित क्षेत्र में भी प्रसाद की नाट्यकला के सभी अंगों का पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

पुस्तक लिखने में मुझे जिन लेखकों की पुस्तकों से सहायता प्राप्त हुई है उनका मैं सदैव आभारी रहूँगा। उन लेखकों के नाम उनकी पुस्तकों से लिए गये उद्धरणों के साथ ही दे दिये गये हैं। अपने बाल-मित्र श्री हनुमानप्रसाद तिवारी जी का मुझे बड़ा सहयोग मिला है परन्तु आत्मीयता की दृष्टि से उन्हें धन्यवाद देना ठीक नहीं मालूम

होता यद्यपि कभी-कभी आधी रात तक ठंड में बैठकर इस पुस्तक की पाण्डुलिपि संशोधन में जब उन्हें अधिक देर हो जाती थी तब मुझे उनके ऊपर दया भी आती थी और श्री पूज्य भाभीजी के क्रोध का स्मरण भी हो आता था। अपने दूसरे मित्र श्री राजेन्द्रसिंह गौड़ और श्री मानिकलाल जी को भी मैं इस समय नहीं भूल सकता जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने के लिए प्रेरित किया था और जिनकी स्वाभाविक सुहृदयता से मुझे समय-समय पर बड़ा उत्साह मिलता रहा।

अन्त में डाक्टर रामकुमार जी वर्मा का भी जिन्होंने अपना बहुमूल्य समय देकर इस पुस्तक की भूमिका लिखने का कष्ट किया है, मैं सब से अधिक ऋणी हूँ।

दुख है कि पूर्ण सावधानी रखते हुए भी पुस्तक में प्रेस की कई भूलें रह गई हैं। आशा है पाठकगण भाषा की इन त्रुटियों की ओर ध्यान न देंगे।

इस पुस्तक द्वारा यदि मैं साहित्य की कुछ भी सेवा कर सका तो अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

क्राइस्ट चर्च कालेज,
कानपुर,
अप्रैल, '४४

राजेश्वरप्रसाद अर्गल

भूमिका

साहित्य किसी भी राष्ट्र की ऐसी साधना है जिसमें उसे आत्माभिव्यक्ति के साथ ही साथ आत्मोन्नति की प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। यह आत्मोन्नति न केवल उसकी अंतरंग भावनाओं में होती है प्रत्युत उसके चारों ओर जो राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं, उनसे भी वह यथोचित स्फूर्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार साहित्य के विकास में परिस्थितियों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा करता है। साहित्य और समाज एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए अपने दृष्टि-बिन्दु निर्धारित करते चलते हैं।

हिन्दी साहित्य अपने निर्माण और विकास में परिस्थितियों से विशेष प्रभावित हुआ है। चारणकाल, भक्तिकाल, कलाकाल और आधुनिक काल में जो विशेष विचार-धाराओं की प्रगति चली है, वह साहित्य की विविध शैलियों की जननी है। यद्यपि इतिहास का विभाजन विशिष्ट कालों में न होकर अपने विकास की परिस्थितियों में होना चाहिए। तथापि किसी भी काल की प्रमुख विचार-धाराएँ उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखी जा सकतीं। सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्य के विकास में ऐसी ही निर्माण सीमाएँ हैं जैसी किसी नाटक में संधियाँ हुआ करती हैं।

हिन्दी साहित्य के विकास पर दृष्टि डालते समय ये परिस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिककाल जो भारतेन्दु के युग में प्रारंभ होता है, विचार धाराओं के तीव्र घात और प्रतिघात से अपने निर्माण में विशेष सजग हुआ है। पश्चिम का संपर्क उसे अपने नवीन रूप के निर्धारण में विशेष सहायक हुआ है। पश्चिम में साहित्य ने जीवन की जिस दृष्टिकोण से आलोचना की है, वह दृष्टिकोण हिन्दी के सामने भी आया और उसके यथार्थवाद ने हिन्दी साहित्य को विविध विचार-

क्षेत्रों में अपना विकास करने के लिए प्रोत्साहित किया। भारतीय विद्रोह, बंग-भंग, महायुद्ध और असहयोग आन्दोलन आधुनिक साहित्य को अग्रसर करने में सहायक हुए हैं और उनसे उन्हें स्फूर्ति भी प्राप्त हुई है। इसी समय हिन्दी साहित्य को पश्चिम के दृष्टिकोण में अपना विकास करते हुए भारतीयता के प्रति स्वाभिमान भी प्राप्त हुआ है। उसने नाटक, उपन्यास, कविता और कहानी में सांस्कृतिक इतिहास की पृष्ठभूमि पर अपने आधुनिक संघर्ष में भाग लिया है और अपने भविष्य-निर्माण का पथ प्रस्तुत किया है। साहित्य ने राष्ट्रीय भावनाओं के साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय सहानुभूति भी अपनायी और ऐसी दृष्टि प्राप्त की जो भौगोलिक और ऐतिहासिक सीमाओं से नहीं रोकी जा सकी।

सांस्कृतिक और अन्तर्राष्ट्रीय विचारों को साहित्य में प्रविष्ट कराने वाले साहित्य-निर्माताओं में श्री जयशंकर 'प्रसाद' की प्रतिभा सर्वतोन्मुखी रही है। नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी और निबन्धों में उन्होंने भारतीयता का अभिज्ञान जिस कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है वह हिन्दी साहित्य में अद्वितीय है। उनके नाटक तो इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर उन्होंने भारतीय मनोविज्ञान को जिस स्पष्टता के साथ अंकित किया है वह न केवल हिन्दी की अमर कृति है वरन् वह भारतीय इतिहास और साहित्य की अमूल्य निधि भी है। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त उनके [illegible] हैं जिन पर किसी भी साहित्य को गर्व हो सकता है। उनके दृष्टिकोण के तीन उदाहरण लीजिए —

'अतीत के वज्र कठोर हृदय पर जो कुटिल रेखा चित्र खिंच गये हैं, वे क्या कभी मिटेंगे? यदि आपकी इच्छा है तो वर्तमान में [illegible] चित्र खींचिये, जो भविष्य में उज्ज्वल [illegible] शान्ति दें। दूसरों को सुखी बनाकर सुख पाने का अभ्यास कीजिए।

[अजातशत्रु, पृ० [illegible]]

"युद्ध क्या गान नहीं है ? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का ताण्डव-नृत्य और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अन्तिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखों से देखना, जीवन रहस्य के चरम सौंदर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरंतर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में भी मंगल का—शिव का, सत्य सुंदर संगीत का समारंभ होता है।"

[स्कन्दगुप्त, पृष्ठ ४५]

"समझदारी आने पर यौवन चला जाता है—जब तक माला गूँथी जाती है तब तक फूल कुम्हला जाते हैं। जिससे मिलने के सम्भार की इतनी धूमधाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक मनुष्य हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नहीं बनाए रह सकता। मनुष्य की चंचल स्थिति तब तक उसे उस श्यामल कोमल हृदय को मरुभूमि बना देती है। यही तो विषमता है।"

[चन्द्रगुप्त, पृष्ठ १३०-१३१]

प्रसाद के इस व्यापक दृष्टिकोण को स्पष्ट रूप से समझने की आवश्यकता है। प्रसाद जैसे कलाकार का अध्ययन आधुनिक आलोचना का विषय होना चाहिये। उसमें साहित्य के विद्यार्थियों को अपने जीवन के आदर्श प्राप्त होंगे। अभी तक प्रसाद के नाटकों की आलोचनाएँ और उनके दृष्टिकोण को पहिचानने के प्रयास कम हुए हैं। डा० जगन्नाथ प्रसाद तिवारी और शिलीमुख जी की कृतियाँ इस क्षेत्र में प्रशंसनीय हैं। प्रस्तुत पुस्तक भी इस दिशा में एक सफल प्रयत्न है। श्री अर्गल जी हिन्दी के सफल समालोचक हैं और उन्होंने सांस्कृतिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रसाद के नाटकों का विशेष अध्ययन किया है। वे साहित्य में सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों का महत्त्व जानते हैं और इसी कारण वे प्रसाद की नाट्यकला और भाव-क्षेत्र की विवेचना

बड़े सुन्दर ढंग से कर सके हैं। प्रसाद के नाटकों का यह अध्ययन सामाजिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि पर पूर्णतया नवीन और मौलिक है। स्थानाभाव के कारण उन्होंने प्रसाद के तीन प्रमुख नाटक ही चुने हैं।

श्री अर्गल जी संगीतज्ञ, चित्रकार और काव्य-प्रेमी भी हैं। इन तीनों की समष्टि से वे प्रसाद जी की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पात्रों की भावात्मक सृष्टि पूर्ण रूप से समझने में सफल हुए हैं। देवसेना के चरित्र की दिव्य अनुभूति मुझे अर्गल जी की समीक्षा में पूर्ण सन्तोषजनक मिली। देवसेना के जीवन की संगीत-प्रियता में क्रीड़ा करता हुआ प्रेम और आत्मोत्सर्ग अर्गल जी की आलोचना में स्पष्ट हुआ है। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त और चाणक्य की चरित्र-रेखा भी स्पष्ट हो गई है।

यह पुस्तक हिन्दी के विद्वान् और विद्यार्थियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करेगी यह मेरा विश्वास और सन्तोष है।

हिन्दी विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय
प्रयाग
२०-४-४४

रामकुमार वर्मा

विषय-सूची

प्रसाद की नाट्य-कला

भारतीय नाटक

नाटकों का जन्म

अनुकरण प्रवृत्ति ही नाट्य साहित्य की जननी है। अतएव नाटक के सभी उपकरण हमारी मानव वृत्तियों मे ही अन्तर्निहित हैं। उनके लिए न तो हमें समाज की और न सस्कृति की आवश्यकता है। परन्तु साहित्य सुव्यवस्थित समाज में ही विकसित हो सकता है, अतएव नाट्य साहित्य का प्रादुर्भाव सभ्यता के विकास के साथ ही साथ हुआ। आदिम निवासियों की अनुकरण प्रवृत्तियों ने धार्मिक उत्सवों पर देवता की पूजा को अधिक प्रभावशाली, शिक्षा-पूर्ण और मनोरंजक बनाने के लिए उनकी स्तुतियों को एक प्रकार की रासलीला अथवा राम-लीला मे परिवर्तित कर दिया, जिनमें उन देवी-देवताओं के जीवन की घटनाओं का अभिनय एक या दो पात्रों द्वारा किया जाता था। इन अभिनयों में सगीत की प्रचुर मात्रा थी, क्योंकि वास्तव मे ये देवी-देवताओं की प्रार्थनाएँ ही थीं। क्रमश· सगीत की मात्रा कम होती गई और बोल-चाल की भाषा का प्रयोग इन पूजाओं में होने लगा।

संस्कृति के विकास के साथ ही साथ इन अभिनयों में साहित्य की पुट भी दी जाने लगी।

भारतवर्ष के नाट्य साहित्य का उद्भव काल ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के परे अंधकार में छिपा हुआ है। वह किस समय विकसित हुआ यह ठीक रूप से नहीं कहा जा सकता। प्रारंभ में इसकी रूपरेखा क्या थी, यह केवल कल्पना से ही या अन्य देशों के नवजात नाट्य साहित्य के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। यूनान और चीन के नाट्य साहित्य का जन्मकाल, उनकी शैशवावस्था तथा किशोरावस्था के विषय में हमारे पास प्रचुर सामग्री है। अतएव यूनान और चीन के साहित्यिक आधार पर ही हम भारत के प्रारंभिक नाट्य साहित्य की कल्पना कर सकते हैं।

बहुत पहले यूनान देश में डायोनिसस देवता की पूजा करने के लिए लोगों ने अजा गीतों की रचना की थी। डायोनिसस हमारे यहाँ के गणेश जी के समान अर्द्ध मानव और अर्द्ध पशु थे। अन्तर केवल इतना ही था कि उनका मुँह मानवी था और देह अजा की। इसी कारण अजा गीत गाते समय, गायक बकरी का चमड़ा अपने ऊपर ओढ़ लिया करते थे। अजा गीत वास्तव में प्रार्थना ही थी और गान के रूप में एक-दो पात्रों द्वारा कही जाती थी। धीरे-धीरे ये गीत परिवर्तित होकर ट्रेजेडी या दुःखान्त नाटकों के नाम से प्रसिद्ध हो गए। सुखान्त नाटकों का भी प्रादुर्भाव इसी रूप में हुआ था। [illegible]

[illegible] उत्सवों पर [illegible] में बैठकर अश्लील गीत गाते [illegible] चलते [illegible] करते जाते थे। ये ही अश्लील [illegible]-बार परिष्कृत होकर सुखान्त नाटकों के रूप में [illegible]

[illegible] नाटकों का इतिहास

नाटकों [illegible] इसी आधार पर [illegible] यहाँ देवासुर-संग्राम [illegible] नाटक रचना होने लगी थी, [illegible]

वास्तविक रूप का हमें पता नहीं। महाभारत और रामायण-काल में हमें दो एक नाटकों के नाम मिलते हैं, परन्तु उन नाटकों की प्रतियाँ अभी तक प्राप्त नहीं हुईं। नाटकों का ऐतिहासिक ज्ञान हमें व्याकरणाचार्यों के समय से मिलता है। पाणिनी के कथानुसार उनके बहुत पहले ही भारतवर्ष में नाट्य साहित्य पर लक्षण ग्रन्थ आदि बन चुके थे। अतः यह स्वयं-सिद्ध है कि व्याकरण-काल तक यहाँ पर नाटकों का इतना प्रचार हो गया था कि लोगों ने उनके विषय में नियमादि बनाना प्रारंभ कर दिया था। पाणिनी का समय लगभग ३०० ई० पू० माना जाता है, इसलिए भारतवर्ष में ईसा के कई शताब्दी पूर्व से ही नाटक रचना होने लगी थी। कालिदास का समय जो पहले नाटकों का बालकाल समझा जाता था, वास्तव में नाटकों के विकास का मध्य युग था। यद्यपि यह सत्य है कि कालिदास के पूर्व के नाटकों का ज्ञान न होने से नाट्य साहित्य का अध्ययन कालिदास के ही समय में प्रारंभ होता है।

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी तथा शकुन्तला तीन बहुत ही उत्तम और विश्वविख्यात नाटक लिखे। शकुन्तला तो कवि की अमरकृति है जो कई भाषाओं में अनूदित भी हो चुकी है। कालिदास के उपरान्त श्री हर्ष ने नागानंद और रत्नावली नाटक लिखे तथा श्री शूद्रक ने मृच्छकटिक नामी एक सुन्दर और मर्मस्पर्शी नाटक लिखा। इनके पश्चात् ८वीं शताब्दी में महाराज यशोवर्धन के राज-कवि भवभूति ने नाटकशास्त्रों के नियमों में विशदता और संशोधन-सा करते हुए अपने कई उत्तम नाटक लिखे जिनमें उत्तर रामचरित, महावीर-चरित और मालती माधव विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने नाटकों में नाटकीय सिद्धान्तों का उल्लंघन भी यथेष्ट किया। परन्तु कवि की प्रतिभा ने कहीं भी इनकी कला को नीरस या शक्तिहीन नहीं बनाया।

९वीं शताब्दी में भट्ट ने और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक लिखे। इनके उपरान्त राजेश्वर ने बालरामायण और कर्पूरमंजरी की रचना की।

स्कन्दगुप्त की ये अन्तिम पंक्तियाँ किसके हृदय में त्याग का भाव उत्पन्न न कर देंगी।

"कष्ट हृदय की कसौटी है। तपस्या अग्नि है। सम्राट् यदि इतना भी न कर सके तो क्या! सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो इसलिए सुख करना ही न चाहिए। मेरे इस जीवन के देवता! और उस जीवन के प्राप्य क्षमा।"

इतिहास की दृष्टि से महाराज बिंबसार की मृत्यु अन्तिम दृश्य में आवश्यक थी, परन्तु मरणान्त होते हुए भी अजातशत्रु सुखान्त नाटक ही रहा है। हृदय की उत्कट वासनाओं का अन्त शान्ति में होता है। विरुद्धक, श्यामा, मागन्धी, छलना और अजात अपने अपने चित्त के विकारों को छोड़कर सत्पथ पर आते हैं। यद्यपि बिंबसार का अन्तिम अंक में लड़खड़ा कर गिरना उसकी मृत्यु का द्योतक है, परन्तु यह दृश्य सुख और शान्ति का ही दृश्य है। महाराज बिंबसार की मृत्यु "ओह इतना सुख मैं एक साथ सहन न कर सकूँगा" कहते हुए ही होती है, साथ ही भगवान् गौतम का प्रवेश और उनका अभय हाथ उठाना बिंबसार के हृदय की तथा उस अवसर की पूर्ण शान्ति का सूचक है। अजातशत्रु का कथानक कुछ अंशों में शेक्सपियर के रिचर्ड द्वितीय और किंग लियर से मिलता है। परन्तु प्रसाद जी का नाटक शेक्सपियर के नाटक से बिलकुल ही भिन्न है। अजातशत्रु नाटक शेक्सपियर के [illegible] में किंग लियर के समान भयानक ट्रेजडी होती।

जीवन का महान आदर्श उपस्थित करने के लिए तथा नाटकों [illegible] जनता में सुख शांति का सन्देश देने के लिए, संस्कृत नाटकों में [illegible] नियम बना रखा था कि नाटकों के नायक सर्वलोक प्रसिद्ध [illegible] तथा उनके कथानक हमारे धार्मिक अथवा ऐतिहासिक ग्रंथों से [illegible]। राजाओं वा देवताओं के जीवन साधारण जनसमूह [illegible] मनोरंजक रहा करते हैं। साथ ही [illegible] चरित्र दर्शकों के हृदय में अपने आप ही पुण्य के प्रति प्रीति और पाप के प्रति घृणा उत्पन्न [illegible]

है। पाप का पतन दिखाने के लिए या नायकों के चरित्रों के आदर्शों को अधिक दीप्तमान करने के लिए खल-नायकों (Villain) के पूर्ण विकसित चरित्र भी रखे जाते थे, लेकिन पश्चिमी दृष्टि से यहाँ पर कोई Poetic Justice न होता था जहाँ कि पापी अपने दुष्कर्मों का परिणाम भोगे और पुण्यात्मा विजयी हों। पापी की सबसे बड़ी यन्त्रणा उसकी मनोवेदना है—उसकी आत्मा की भर्त्सना है। अतएव भौतिक वा शारीरिक कष्ट न दिखला कर, साथ ही नायकों का महान् आदर्श उपस्थित करने के लिए प्रत्येक पापी नायक द्वारा क्षमा कर दिया जाता था। इस प्रकार इन चरित्रों के द्वारा तथा उनकी जीवन-घटनाओं के द्वारा नाटक एक आदर्श वातावरण का ही चित्र मालूम होता था। भटार्क की भर्त्सना और स्कन्द, चाणक्य अथवा बिम्बसार का क्षमा-दान इसी रूप में ही है।

कर्म का आदर्श संस्कृत नाट्यकारों के सम्मुख सदा ही रहता था और इस दृष्टि से त्याग और सेवा नायक के सबसे बड़े गुण थे। चाणक्य सचमुच में कूटनीति का निर्माता था और उसका कौटिल्य नाम उसके चरित्र का ही द्योतक है। लेकिन उस ब्राह्मण ने जो कुछ किया दूसरों के लिए—स्वयं के लिए नहीं। इसी कारण वह मुद्राराक्षस का नायक हो सका। चन्द्रगुप्त का चाणक्य भी कर्म के इसी आदर्श की भावना है।

> "मौर्य्य तुम्हारा पुत्र आर्य्यावर्त्त का सम्राट है। अब और कौन सा सुख तुम देखना चाहते हो? काषाय ग्रहण कर लो जिसमें अपने अभिमान को मारने का तुम्हें अवसर मिलेगा।"

+ + +

> "कितना गौरवमय आज का अरुणोदय है। भगवान् सविता तुम्हारा आलोक जगत का मंगल करे। मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ।"

चक्रवर्ती सम्राट भी अपना कार्य करते हुए अन्त में तपोभूमि की ओर ही जाते हैं। इस उद्देश्य के कारण संस्कृत नाटकों के अन्तिम

दृश्य चाहे वे करुण रस से ओतप्रोत हों या उनमें सुख का समीर बहता हो, सदैव एक अनुपम शान्ति लिये हुए रहते हैं। जो शान्ति इस ससार के वातावरण से भिन्न हमें दूसरे वातावरण की ओर ले जाती है। प्रसाद जी के सभी नाटकों का अन्त इसी शान्ति में होता है। उनमें एक प्रकार का वैराग्य भाव मालूम होता है।

"यदि मैं सम्राट् न होकर किसी विनम्र लता के कोमल किसलय झुरमुट में एक अधखिला फूल होता और ससार की दृष्टि मुझ पर न पड़ती, पवन की किसी लहर को सुरभित करके धीरे से उस थाले में चू पड़ता, तो इतना भीषण चीत्कार इस विश्व में न मचता।"—अजातशत्रु

\+ + +

स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त नाटक के अन्तिम दृश्यों के उदाहरण हम ऊपर उद्धृत कर ही चुके हैं।

आदर्श वातावरण चित्रित करने की दृष्टि से सस्कृत नाटकों में नित्यप्रति की बातों का प्रदर्शन वर्जित था। कटु सत्यता और भौतिकवाद रगमच पर दिखाना आचार्यों के सिद्धान्त के प्रतिकूल था, क्योंकि ऐसे दृश्य आदर्श लोक के निर्माण में बाधक रहते हैं। इसी कारण भरतमुनि ने लम्बी यात्रा, हत्या, युद्ध, राजविद्रोह, खाना पीना, कपड़े पहनना, स्नान आदि का दिखलाना निषेध कर दिया था। प्रसाद जी ने इस नियम के विरुद्ध जो दृश्य रखे हैं, वे केवल पश्चिमीय नाटकों के प्रभाव के कारण ही।

सस्कृत नाटकों में प्रकृति वर्णन

सस्कृत नाटकों के धार्मिक सस्कारों के कारण ही उनका प्रकृति वर्णन अतिरञ्जित हो उठा है। आत्मा केवल मनुष्य में ही नहीं है। परमात्मा विश्वात्मा है। अतएव क्या फल-फूल, क्या पशु-पक्षी सब में सहोदर का सबंध, सभी एक दूसरे के दुःख से दुखी और एक दूसरे के

सुख से सुखी होते हैं। सीता और शकुन्तला का वियोग उन्ही तक सीमित न था। उसमे प्रकृति की भी पूर्ण सहानुभूति थी। पूर्ण प्रकृति उस विश्वात्मा का प्रतिबिम्ब ही तो है। रहस्यवादी कवि भी आत्मा की नित्यता और जीव की एकता मे विश्वास करता है, और प्रथम रहस्यवादी कवि होने के कारण भी प्रसाद जी इस प्रभाव से अछूते नहीं बचे हैं। यद्यपि ससार के किसी भी देश के नाटकों मे रहस्यवाद नहीं पाया जाता लेकिन प्रसाद जी के रहस्यवाद का प्रभाव उनके नाटकों पर थोड़ा बहुत अवश्य है। देवसेना प्रकृति देवि की ही सौम्य मूर्ति है। उसका सगीत और फूलों से लदे हुए पारिजात का संगीत एक ही है।

"तुमने एकान्त टीले पर, सब से अलग, शरद के सुन्दर प्रभात मे फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ पारिजात वृक्ष देखा है?

"नहीं तो।

"उसका स्वर अन्य वृक्षों से नही मिलता। वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन मे कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटका कर, ताली बजाकर झूम-झूम कर नाचता है। अपना नृत्य, अपना सगीत वह स्वय देखता है, सुनता है। उसके अन्तर मे जीवन शक्ति वीणा बजाती है। वह बड़े कोमल स्वर मे गाता है—

घने प्रेम तरु तले "

संस्कृत नाटकों मे चरित्र चित्रण

संस्कृत नाटकों की तीसरी विशेषता उनके चरित्र-चित्रण की है। यूनानी नाटकों के प्रतिकूल संस्कृत नाटकों में चरित्रों की सख्या अधिक रहा करती थी और उनमें सभी वर्गों के चरित्रो का चित्रण भी होता था। संस्कृत नाट्यशास्त्रों ने चरित्रों को कई वर्गों मे विभाजित किया है और साथ ही प्रत्येक वर्ग की मुख्य-मुख्य बातो का समावेश

किया है। प्रसाद जी के नाटकों में यद्यपि नाटकीय पात्रों की भरमार है परन्तु उसे संस्कृत का प्रभाव कहना भूल होगा। नाटककार की चरित्र निर्माण-शक्ति स्वयं नाटककार की प्रतिभा और कल्पना पर अवलम्बित रहती है—बाह्य प्रभावों पर नहीं।

संस्कृत नाटकों का वातावरण यूनान के नाटकों के वातावरण के समान प्रत्यक्षवादी नहीं रहता। संस्कृत नाटक देवी-देवताओं के चरित्रों द्वारा, पौराणिक और ऐतिहासिक कथा संघटन द्वारा और अपनी कल्पना शक्ति के सहारे एक दैवीय, अलौकिक, आदर्शात्मक वातावरण को निर्मित करते हैं। यूनानी नाटक भी यद्यपि अतिप्राकृत (Super natural) शक्तियों को रंगमंच पर लाते हैं, परन्तु वे अप्रत्यक्ष रूप में ही, इस संसार के लोगों को खिलौना मात्र समझ कर ही, काम करती हैं। यूनानी नाटक की केथारसिस और भाग्य का व्यंग हमारी वास्तविक परिस्थिति को और भी अधिक विकट बनाने को रहा करती है। प्रसाद जी के नाटक इस रूप में भी संस्कृत के नाटकों के अधिक समीप हैं। उनके कथानक, और पात्र आदर्शलोक का ही निर्माण करते हैं और यद्यपि उनके नाटकों में देवी-देवताओं तथा लोकान्तर शक्तियों को स्थान नहीं दिया गया है, परन्तु उनके आदर्श चरित्र भगवान् बुद्ध, मल्लिका, वासवी, देवकी, देवसेना, आदि अपने दैवीय गुणों में किन देवताओं से कम हैं? संस्कृत के इस आदर्शलोक में वास्तविकता लाने के लिए नाटकाचार्यों ने विभिन्न प्रान्तों की बोलियों का उपयोग करने की आज्ञा दी है। उनके ब्राह्मण और राजकुमार आदि देववाणी संस्कृत में बोलते हैं, स्त्रियाँ प्राकृत भाषा में, और अन्य चरित्र अपने-अपने प्रान्तों की बोली का उपयोग करते हैं। प्रसाद जी ने प्रान्तीय बोलियों का उपयोग नहीं कराया है, लेकिन वास्तविकता रखने के लिए भिन्न-भिन्न पात्रों की भाषा में चरित्रानुसार काफी अन्तर कर दिया है।

संस्कृत नाटकों में काव्य

संस्कृत नाटकों में काव्यानुरक्ति अधिक देखने में आती है, और इस दृष्टि से वे एलिजावेथ कालीन नाटककारों से बहुत अधिक मिलते हैं। गद्य में बात करते करते वे पद्य का अनुसरण करने लगते हैं। भिन्न-भिन्न छन्दों में सुन्दर कविताएँ नाटककारों ने सजा कर रखी हैं। ये कविताएँ कहीं तो गाने के लिए हैं और कहीं केवल पठन करने के लिए ही। प्रसाद जी ने अजातशत्रु में अधिकतर संस्कृत नाटकों का ही अनुसरण किया है। यद्यपि आधुनिक वास्तविकता की ओर ध्यान रखते हुए उन्होंने पद्य के इस उपयोग में बहुत परिवर्तन कर दिया है। स्कन्द-गुप्त और चन्द्रगुप्त में उन्होंने इस नियम को पाला नहीं। फिर भी भारतीय संस्कृति को वे छोड़ न सके। पद्य की अपेक्षा उन्होंने गद्य-काव्य का ही उपयोग अधिक किया है। संस्कृत नाटकों में पद्य का यह उपयोग आदर्श वातावरण उपस्थित करने के साथ ही साथ रस-सचार करने के लिए भी होता था। प्रसाद जी के ये स्थल भी नाटकों को इस आधुनिक वातावरण से दूर प्राचीन भारत में ले जाते हैं। वे हमारे सामने नित्यप्रति के जीवन से भिन्न एक नया जीवन उपस्थित कर देते हैं जिसकी ओर हम सतृष्ण देखा करते हैं।

पश्चिमी और संस्कृत नाटक

संस्कृत नाटक पूर्ण रूप से (Romantic) रोमांटिक नाटक थे। इस कारण वे अँग्रेजी के शेक्सपियर आदि ऐलिजावेथ कालीन नाटकों से बहुत अधिक मिलते हैं। पश्चिमी नाटकों का जो प्रभाव बंगाली या भारतीय भाषाओं पर पड़ा उसमें एलिजावेथीय नाटकों का प्रभाव मुख्य है, क्योंकि वे संस्कृत नाटकों से कई बातों में पूर्ण रूप से मिल जाते हैं। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक शेक्सपियर से अधिक प्रभावित हैं, और प्रसाद जी के नाटकों पर भी यदि पश्चिमी प्रभाव कहीं दिखता है तो वह भाषा और वातावरण में ही, और इस रूप में वे पश्चिमी

आधुनिक नाटकों से दूर शेक्सपियर के नाटकों के समीप ही दिखते हैं। आधुनिक रुचि के फलस्वरूप भी प्रसाद जी ने नाटक रचना में संस्कृत नाट्यशास्त्रों की कई बातें छोड़ दी हैं और पश्चिमी नाटकों की कई बातें ग्रहण कर ली हैं। लेकिन स्थूल और ऊपरी छोटी-छोटी बातों को छोड़ कर यह दिखलाना कि प्रसाद जी पर कितना पूर्वी और कितना पश्चिमी प्रभाव है—एक दृष्टि से असम्भव ही है—क्योंकि कला के नियम सार्वभौमिक होते हैं, अतएव पश्चिमी और पूर्वी नाटकों का एक मुख्य अन्तर, जो हम ऊपर देख आये हैं, छोड़ अन्य बातें एक ही सी मालूम होती हैं। कला के उद्देश्य में भी कई पश्चिमी नाटकाचार्य संस्कृत नाटकों के समीप आते हैं। होरेस का, नाटक का पाँच अंकों में विभाजन और रंगमंच पर अच्छी बातें ही दिखाना संस्कृत नाट्यशास्त्र के सिद्धान्त के ही अनुकूल है। सिडने और रिनासेंस के नाट्य आलोचक तो अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में संस्कृत के नाटक के उद्देश्य को ही अपनाते हुए मालूम होते हैं, यथा सिडने का यह सिद्धान्त, कि "नाटककार को कला का उद्देश्य पूर्ण करने के लिए, (जनता का) मनोरंजन करते हुए शिक्षा देना चाहिए", संस्कृत के सिद्धान्त का ही रूपान्तर मात्र मालूम पड़ता है। भारतीय नाटकों का अलौकिक वातावरण और करुणापूर्ण सुखान्त ऐलिजावेथीय रोमान्टिक ट्रेजिक-कॉमेडी से इतना अधिक मिलता है कि ईस्ट इंडिया कंपनी का राज्य जमने पर १९वीं शताब्दी में एलिजावेथ कालीन नाटकों ने भारतवर्ष में अपनी दृढ़ नींव जमा ली। अन्य बातों में भी संस्कृत नाटक और पश्चिमी नाटक के सिद्धान्त एक से ही हैं। संस्कृत नाटकों में कथा-संगठन और चरित्र-निर्माण के सिद्धान्तों में कोई विशेषता न थी, केवल नाटककारों को देव-चरित्रों और लोक-विदित घटनाओं का ही समाहार करना पड़ता था। प्रधान और प्रासंगिक दोनों प्रकार की घटनाओं का निर्वाह नाटकों में होता था। यूनानी काल और स्थान संकलन के सिद्धान्त संस्कृत नाटकों में नहीं था, फिर भी [illegible]

नाटककारों ने इन नियमों को रखा है। रत्नावली के सभी अंकों की घटना राजप्रासाद के उपवन के भिन्न-भिन्न भागों में ही होती है, परन्तु इसे नियम का अपवाद ही समझना चाहिए।

नाटक में प्रायः पाँच से दस अंक तक रहा करते हैं और उनमें कथावस्तु को फल की ओर अग्रसर करने वाली पाँच प्रकृति रहती हैं—जो बीज, पताका, बिन्दु, प्रकरी और कार्य कहलाती हैं। पूरा कार्य प्रायः पाँच भागों में बाँटा जाता है आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। अवस्थाएँ केवल कार्य या व्यापार शृंखला की भिन्न-भिन्न स्थितियों की सूचक हैं। अर्थ प्रकृतियाँ कथावस्तु के तत्त्वों की द्योतक हैं। रचना की दृष्टि से नाटक के विभाग संधियों द्वारा बतलाये जाते थे। ये संधियाँ भी पाँच हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण संधि। कथानक की ये प्रकृति अवस्थाएँ और संधियाँ संस्कृत नाटकों की अपनी निजी कोई वस्तु नहीं, प्राय. सभी नाटकों के कथा विकास में ये अवस्थाएँ रहती हैं।

नाटक का प्रारम्भ पूर्व रंग से किया जाता है जिसमें नांदीपाठ और दर्शकों से नाटककार की ओर से प्रार्थना रहती है। उसके पश्चात् सूत्रधार प्रस्तावना द्वारा विषय की भूमिका उपस्थित करता है। कभी कभी नट-नटी से भी यह काम कराया जाता है। प्रस्तावना के बाद नाटक प्रारम्भ होता है। नाटक कई अंक और गर्भांकों में विभाजित रहता है। आकाशवाणी और नेपथ्य का भी उपयोग किया जाता है। नाटक के अन्त में देवताओं के लिए प्रार्थना होती है।

संस्कृत नाटक और प्रसाद

प्रसाद जी के नाटक दार्शनिक क्षेत्र तक ही संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुकूल हैं। अन्य ऊपरी बातों में उन्होंने आधुनिक रुचि के अनुसार परिवर्तन कर दिया है। प्रारम्भ में तो अवश्य ही उन्होंने कविता पाठ आदि रखा था परन्तु ऐतिहासिक नाटकों में उन्होंने आधुनिक शैली को ही अपनाया है। इनका प्रथम नाटक सज्जन था जो चित्राधार नामक

पुस्तक मे सग्रहीत है। इस काल मे काव्य क्षेत्र से चलकर नाटककार नाटक की नवीन भूमि में आ रहा था अतएव प्रारम्भिक नाटकों मे काव्य का सहारा लेना स्वाभाविक ही था। करुणालय और उर्वशी के सभी पात्र कविता मे बातचीत करते हैं। धीरे-धीरे गद्य की मात्रा बढती गई। अजातशत्रु तक पद्य का कुछ न कुछ सहारा ये लेते ही रहे। यद्यपि उनके इस प्रयोग मे रुचि, अभ्यास और कथा-विकास के कारण बहुत अन्तर पड गया। लेकिन ऐतिहासिक नाटकों मे उन्होने पुरानी रूढियों को तोडना प्रारम्भ कर दिया। सज्जन मे सर्वप्रथम नान्दी आता है और उसके उपरान्त सूत्रधार अपनी स्त्री से नाट्या-भिनय का प्रस्ताव करता है और नाटक प्रारम्भ होता है। इसका प्रकृति वर्णन भी सस्कृत नाटकों के सदृश हुआ है और इन वर्णनो मे नीति या व्यवहार के किसी तत्त्व-निरूपण करने की चेष्टा की गई है। नाटक का अन्त भरतवाक्य मे होता है। सज्जन के बाद नाटकों मे प्रस्तावना का अभाव है। नाटक का प्रथम दृश्य ही विगत घटनाओं की सूचना देने का कार्य करता है। परन्तु भरतवाक्य के ढग का एक पद्य प्रसाद के कई नाटकों मे मिलता रहता है। अपने तीन महान् ऐतिहासिक नाटक-काल मे ही वे सस्कृत के इस नियम की अवहेलना कर सके हैं। विशाख, जनमेजय का नागयज्ञ, कामना, करुणालय और उर्वशी का अन्त भरतवाक्य मे ही होता है। एक घूँट मे यद्यपि नाटककार ने भरतवाक्य का रूप त्याग दिया है, परन्तु उसके अन्तिम [illegible] भरत-वाक्य का सकेत है। बाद के नाटकों मे [illegible] की कमी होती गई है। विशाख और अजातशत्रु मे भी [illegible] है, परन्तु चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त मे [illegible]।

सस्कृत नाट्यशास्त्र के नियमों [illegible] हम इनमें कुछ पश्चिमीय प्रभाव भी [illegible] है। [illegible] सस्कृतशास्त्र के वर्जित दृश्यों के उपयोग [illegible]। जनमेजय के नागयज्ञ मे जरत्कारु की मृत्यु और [illegible]

नागों की आहुति ऐसे प्रसंग हैं। प्रायश्चित्त में जयचन्द आत्म-हत्या करता है और अजातशत्रु में श्यामा की हत्या का प्रयत्न किया जाता है। स्कन्दगुप्त में तो हत्याओं की संख्या अधिक बढ़ जाती है और चन्द्रगुप्त में भी कई चरित्र आत्म-हत्या कर डालते हैं। अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त नाटकों में कारुण्य की तीव्रता शेक्सपियर की की ट्रेजेडीज के सदृश ही दिखाई पड़ती है।

प्रसाद की नाट्य-कला के मूल तत्त्व

देश-प्रेम

प्रसाद जी का अजातशत्रु नाटक महायुद्ध के अन्तिम काल में लिखा गया था। चन्द्रगुप्त उनके बाद की कृति है और स्कन्दगुप्त १९२८ में प्रकाशित हुआ। इस काल में भारतवर्ष में ही नहीं, सारे संसार में भयानक आँधियाँ उठती रहीं, जिनकी शांति के लिए नये-नये आदर्शों की कल्पना की गई, भारतेन्दु काल से ही भारतवर्ष में देशभक्ति की एक नई भावना जाग्रत हो गई थी। परन्तु बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते न होते इस भावना ने एक दूसरा ही रूप धारण कर लिया। भारतेन्दु काल में अँग्रेजी सत्ता में विश्वास था, पश्चिमी सभ्यता के नये प्रकाश में आकर्षण था। परन्तु बंगाल-विभाजन के पश्चात् देश में जो स्वदेशी और स्वराज्य की लहर देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैली उसमें पश्चिमी सभ्यता की प्रतिक्रियात्मक रूप से भारत में अपनत्व की चेतना जाग्रत होने लगी। भारतीय संस्कृति, भारतीय आदर्श, भारतीय शिक्षा-प्रणाली की तुलना पश्चिमी आदर्शों से की जाने लगी और इस तुलना में भारतीयता अधिक गौरवशाली जान पड़ने लगी। इसी प्रभाव के कारण डॉ॰ अणिमानंद जी ने राष्ट्रीय पाठशाला खोली जो बाद में शांतिनिकेतन के नाम से विख्यात हुई। इसी आदर्श को सामने रखते हुए १९१६ में कर्वे महोदय ने स्त्रियों के लिए भी एक भारतीय विश्वविद्यालय खोला।

बीसवीं शताब्दी की इस राष्ट्रीय भावना से यहाँ का साहित्य अछूता न बचा। साहित्य के महारथियों ने एक ओर तो आधुनिक भारत की दयनीय दशा की ओर सकेत किया और दूसरी ओर प्राचीन भारत के गौरव चित्र अंकित किये। प्रेमचद ने पहला कार्य लिया और प्रसाद जी ने दूसरा। प्रसाद जी के साथ देने वाले कविवर मैथिलीशरण गुप्त भी हैं। जिनका भारतभारती—

हम कौन है, क्या हो गये है और क्या होंगे अभी

की भावना लेकर चला था, इसमे भारत के अतीत और वर्तमान दोनों पर प्रकाश डाला गया था। लेकिन बाद मे साकेत, यशोधरा, द्वापर और जयद्रथवध अतीत भारत के ही सुन्दर चित्र हैं।

प्रसाद जी ने जो कार्य अपने हाथ मे लिया, उसमे वे पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। भारत के इतने अधिक गौरवपूर्ण चित्र उन्होंने अपने नाटकों मे भर दिये हैं कि हमारे सामने काल अपना अचल हटाकर हमारे अतीत की झाँकी उपस्थित कर देता है। हम अपने भारतीय महान् विभूतियों के आदर्शों से, उनकी वीरता से, उनकी कार्यक्षमता से विस्मित हो उठते हैं। देश-प्रेम की एक अलौकिक धारा हमारे हृदय मे बहने लगती है और हम कार्नेलिया के साथ ही गाने लगते हैं—

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।

भारत का प्राचीन गौरव हमें स्फूर्ति से भर देता है। हम मानने लगते हैं। "हम भी तो वीर-पुत्र हैं, हम भी तो आर्य सन्तान हैं फिर क्या न भारत के पुण्य पथ पर आगे बढ़ चलें।" राष्ट्रीय भावना से भरा हुआ उत्साह और नवीन जीवन प्रदान करना क्या प्रसाद [illegible] गीत कितना सुन्दर है—

हिमाद्रि तुङ्ग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयं प्रभासमुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती॥

असंख्य वीर-पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो ।
प्रशस्त पुण्य पंथ है बढ़े चलो बढ़े चलो ॥
असंख्य कीर्ति रश्मियों विकीर्ण दिव्य दाहसी ।
सपूत मातृभूमि के रुको न वीर साहसी ॥
अराति सैन्य सिन्धु में सुवाडवाग्नि से जलो ।
प्रवीर हो, जयी बनो, बढ़े चलो बढ़े चलो ॥

प्रसाद जी का देश-प्रेम नाटक के केवल गीतों तक ही सीमित नहीं है । उनकी नाट्यकला पर इस देश-प्रेम का बहुत ही अधिक प्रभाव पड़ा है । भारतीय आदर्श स्थापित करने में वे जितने सफल हुए हैं उतना हिन्दी संसार में कोई अन्य नहीं । चरित्र-चित्रण पर इसकी गहरी छाप है । देवकी, देवसेना, अलका, वासवी—नारियों के नहीं—भारतीय देवियों के चित्र हैं, जहाँ पारिवारिक सुख के लिए, समाज की शांति के लिए और देश की उन्नति के लिए कठोर से कठोर बलिदान भी फूल से कोमल रहते हैं । गौतम, चन्द्रगुप्त, चाणक्य, सिंहरण, स्कन्द, बन्धुवर्मा भारतीय महान् विभूतियों के चित्र हैं जिन्होंने भारत के संघर्षकाल में, जब भारतीय सत्ता को विनाश काल ही दिख रहा था, भारत की बागडोर अपने हाथ में ले भारतीय संस्कृति, भारतीय आदर्शों का पुनरुत्थान किया । आधुनिक अवनत भारत में उनका ही उदाहरण सहायक हो सकता है । स्कन्द और चन्द्रगुप्त को जिन भीषण परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था क्या वे आधुनिक भारत की परिस्थितियों से भिन्न हैं ? देश में अन्तर्विद्रोह है, विदेशियों से वह आपन्न है । तब प्रसाद की कृतियाँ क्या आधुनिक आंदोलनों का चित्र नहीं हैं ? क्या उनमें वही देश-प्रेम की पुकार नहीं है ? नाटककार ने विशाख की भूमिका लिखते हुए इस बात को स्वीकार भी किया है । "मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रगाढ़ घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है ।"

इसी कारण ही प्रसाद जी का देश-प्रेम ही उनके कथानक का मुख्य अंग है। भारत का जो कुछ अपना था वह मुसलमानी आक्रमणों के बहुत पहले ही लोप हो चुका था। सम्राट् हर्ष की मृत्यु के बाद भारत का अवनति काल प्रारम्भ होता है। अतएव भारत-गौरव-गुणगान के लिए सम्राट् हर्ष के पूर्व का ही भारत उपयुक्त था। "इसके लिए उसने महाभारत-युद्ध के बाद से लेकर हर्षवर्धन के राज्य-काल तक के भारतीय इतिहास को अपना लक्ष्य बनाया है। क्योंकि यही भारतीय संस्कृति की उन्नति और प्रसार का स्वर्णयुग कहा जाता है। जनमेजय परीक्षित से आरंभ होकर यह स्वर्णयुग हर्षवर्धन तक आया है। बीच में बौद्धकाल, मौर्य और गुप्तकाल ऐसे हैं जिनमें आर्य संस्कृति अपने उन्नततम उत्कर्ष पर पहुँची है। अतएव तत्कालीन उत्कर्षापकर्ष के यथार्थ विभाग के अभिप्राय से लेखक ने कुछ विशिष्ट प्रतिनिधियों को चुनकर उनके कुलशील और जीवन-वृत्त के द्वारा उस रसोद्बोधन की चेष्टा की है जो वर्तमान को जीवित रखने में सहायता कर सके।"[1] इसी से प्रसाद जी ने अपने नाटकों के कथानक पूर्व युगों से लिए हैं। करुणालय में वैदिककाल की घटना है। जनमेजय का नागयज्ञ पुराणों की वस्तु है अजातशत्रु बौद्धकाल के आरंभ की, चन्द्रगुप्त मौर्यकाल के आरंभ की और स्कन्दगुप्त गुप्तकाल के अन्तिम समय की वस्तु है। राज्यश्री का कथानक हर्षकाल का है। आधुनि[क युग] की समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से प्रसाद जी ने उपर्युक्त [युग]ों की केवल उस सामग्री को बटोरा है, जो हलचल पूर्ण थी। जहाँ [भार]त का गौरव विलीन होने की समस्या आ रही थी। स्कन्दगुप्त ने [डग]मगाते गुप्त-साम्राज्य के पोत को पार लगाने का भार अपने ऊपर [ले] लिया था, चन्द्रगुप्त ने विलासी नंद से मगध को बचाकर भारत का

---

[1] डा० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा—प्रसाद के नाटकों का शास्त्रीय अध्ययन पृष्ठ २२९।

मस्तक ऊपर उठाया था और जिसकी स्वयं सिकंदर महान् को प्रशंसा करनी पड़ी थी।

नाट्य-रचना में इस देश-प्रेम की भावना का अधिक प्रभाव पड़ा है। भारतीय-गौरव चित्रण करने के लिए प्रसाद जी ने दृश्य के दृश्य रच डाले हैं। विदेशियों द्वारा भारत वर्णन तो इनके प्रायः सभी नाटकों में मिलता है। राज्यश्री में चीनी सुएनच्वांग भारतीय दान देखकर अवाक् रह जाता है।

हर्ष—(नव मणिरत्न दान करता हुआ अपना सर्वस्व उतार देता है। राज्यश्री से) दो बहिन एक वस्त्र (राज्यश्री देती है।)

क्यों मेरी इसी विभूति और प्रतिपत्ति के लिए हत्या की जा रही थी न ? मैं आज सब से अलग हो रहा हूं। यदि कोई शत्रु मेरा प्राण दान चाहे, तो वह भी दे सकता हूं।

"जय महाराजाधिराज हर्षवर्धन की जय"

सुएन०—यह भारत का देव-दुर्लभ दृश्य देखकर सम्राट ! मुझे विश्वास हो गया कि यही अमिताभ की प्रसव-भूमि हो सकती है।

स्कन्द में धातुसेन और चन्द्रगुप्त में सिकंदर महान् और कार्नीलिया भी इस देश को एक कल्पना-लोक ही समझते हैं।

प्रसाद जी की इस प्रवृत्ति के कारण नाटक में कुछ दोष भी आ गये हैं। उनके ऐतिहासिक चरित्र कुछ अस्वभाविक से मालूम होते हैं। विशेषकर सिकंदर और कार्नीलिया। यूनानी जाति बड़ी देश-भक्त थी इस कारण भारत गुणगान में अपने देश का गौरव भूल जाना उनके स्वभाव के प्रतिकूल मालूम होता है। चन्द्रगुप्त की कार्नीलिया तो भारतीयता में इतनी अतिरंजित हो गई कि वह अपने पिता की भी उपेक्षा करने लगती है। राय महोदय की हेलेन भी अपने पिता की उपेक्षा करती है, परन्तु उनकी उपेक्षा का मूल भारतीयता न थी मानवता थी और इस रूप में हेलेन का चरित्र कार्नीलिया के चरित्र से अधिक ऐतिहासिक और अधिक आदर्शमान् है।

देश-प्रेम के कारण प्रसाद जी के नाटकों में शिथिलता भी आ गई है। जहाँ जहाँ भी भारत के गौरव चित्रण करने का मौका नाटककार को मिला है वहीं-वहीं उसने लम्बे दृश्य उपस्थित कर दिये हैं। जो दृश्य नाटक के कथा-प्रवाह में भी सहायक नहीं हैं वे भी नाटकों में ठूँस दिये गये हैं। चन्द्रगुप्त नाटक में यह भूल अधिक है। सिकन्दर महान् का दार्शनिक दाण्डायन से मिलना नाटक की कथा-वस्तु से बहुत अधिक सबध नहीं रखता। लेकिन इस मिलन ने भारत की प्रतिष्ठा सारे संसार में स्थापित कर दी थी। स्वयं सिकंदर जिस दार्शनिक के पास नंगे पैर गया था वह दार्शनिक कितना बड़ा न होगा? भारत के इतिहास में यह मिलन स्वर्णाक्षरों से लिखा जाने वाला पृष्ठ है। इसीलिए प्रसाद जी ने पूरा एक दृश्य अपने नाटक में रख दिया। द्विजेन्द्रलाल राय अपने नाटक में अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित थे, उनके लिए देश-प्रेम संकुचित प्रेम न था। वह देश-प्रेम संसार प्रेम से एक सीढ़ी मात्र था इसी कारण उन्होंने अपने नाटक में इस महान् घटना का उल्लेख मात्र किया है।

प्रसाद जी का देश-प्रेम संकुचित भावनापूर्ण है। वे अपने देश के सामने दूसरे देश की प्रशंसा नहीं सुन सकते। इसी कारण राय बाबू के और प्रसाद जी के चन्द्रगुप्त नाटक में बहुत अन्तर हो गया है। [illegible] आगे चन्द्रगुप्त की समीक्षा करते हुए देखेंगे। लेकिन यहाँ संकेत [illegible] [illegible]ना। अनुचित न होगा कि इस संकुचित राष्ट्रीय प्रेम के कारण चन्द्रगुप्त [illegible] का कथानक शिथिल हो गया है। साथ ही [illegible] उद्घाटित हुआ है। चन्द्रगुप्त के सामने प्रसाद जी का [illegible] [illegible]सिद्ध सिकंदर महान एक लुटेरे की तरह मालूम [illegible] है। [illegible] और अजातशत्रु इस दोष से बच गये हैं [illegible] अलौकिक दृढ़ता है सहनशीलता है [illegible] अद्भुत शक्ति है, वह भारतीय आदर्श के [illegible] का अत्यधिक प्रदर्शन कुछ अस्वाभाविक अवश्य मालूम [illegible] है।

इतिहास-प्रेम

प्रसाद जी की नाट्यशैली का दूसरा तत्त्व उनकी ऐतिहासिकता है। साहित्य के सब अंगों की सेवा करते हुए भी प्रसाद जी का अध्ययन कितना गंभीर था यह उनके ऐतिहासिक अन्वेषणों से मालूम होता है लेकिन उनका ऐतिहासिक ज्ञान नाटकों की लम्बी चौड़ी शुष्क भूमिका तक ही सीमित न था। अपनी खोजों का अपने नाटकों में उन्होंने पूर्ण समाहार किया है। अतीत की टूटी लड़ियों को एकत्रित करने का जो कार्य प्रसाद जी ने किया है वह सराहनीय है। यौवन की मस्ती में मस्त इस नाटककार ने अपनी कल्पना और भावगरिमा से इतिहास के रूखे पृष्ठों में जीवन डाल दिया है। वे अतीत के चित्र हमारे सामने नाचने लगते हैं। "इतिहास के खण्डहरों में भी इसी मस्ती से रमने वाला यह कवि इस दृष्टि से भावना और विज्ञान के समन्वय की प्रतिमा बनकर साहित्य जगत में उपस्थित है।"[1]

'कामना' और एक घूँट को छोड़कर प्रसाद के सभी नाटक ऐतिहासिक आधार पर निर्मित हैं। उनके उद्देश्य से—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिये अत्यंत लाभदायक होता है...क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है।[2] अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त में प्रसाद जी हमारे सामने ऐतिहासिक नाटककार के रूप में ही आते हैं परन्तु उनका यह इतिहास प्रेम साहित्य की दृष्टि से कहीं कहीं अहितकर हुआ है। यदि वे इतिहासकार के रूप में न आकर हमारे सामने कलाकार के रूप में आये होते तो संभव था कि नाटकों का रूप बहुत कुछ

[1] सुमन जी—'कवि प्रसाद की काव्य साधना', पृष्ठ १६
[2] विशाख की भूमिका

बदला हुआ होता। तथा नाटको की शिथिलता भी कम हो जाती। उन्हे इतिहास का इतना अधिक ज्ञान था कि वे अपनी कल्पना को स्वतत्र गति से नहीं उडा सके। सम-कालीन वातावरण उपस्थित करने के लिए तथा नवीन खोजों को नाटक मे सम्मिलित करने के लिए उन्हे भूमिका के साथ ही साथ नाटको मे कुछ निरर्थक दृश्य भी बढाना पडे हैं।

वस्तु सकलन मे भी इसका प्रभाव पडा है। उदाहरणार्थ अजातशत्रु ही लीजिये बौद्धो के प्राचीन ग्रन्थो मे १६ राष्ट्रो का उल्लेख है जिनका वर्णन "भौगोलिक क्रम के अनुसार न होकर जातीयता के अनुसार है। उनके नाम हैं, अग, मगध, काशी वृजि आदि अपनी-अपनी स्वतत्र कुलीनता और आचार रखनेवाले इन राष्ट्रो मे, कितनो ही मे गण तत्र-शासन प्रणाली भी प्रचलित थी—निसर्ग नियमानुसार एकता, राजनीति के कारण नहीं किन्तु एक धार्मिक क्रान्ति से होने वाली थी और इसी धार्मिक क्रान्ति ने भारत के भिन्न भिन्न गणों को परस्पर सधि विग्रह करने के लिए बाध्य किया।"[1] इस प्रकार एक राज्य की घटना दूसरे से सबद्ध हो गई। इसी कारण ही प्रसाद जी को बौद्धकलीन अजातशत्रु के कथानक मे तीन राज्यो की घटनाओ का सगठन करना पडा है। साहित्य की दृष्टि से कोशल, कौशाम्बी और मगध के कथानक मूल कथानक से सम्बन्ध रखते हुए भी [illegible] मालूम होते हैं। प्रसाद जी के इतिहास प्रेम के कारण नाटक के मुख्य [illegible] कार्यसकलन (Unity of action) पर [illegible]। कितना सुन्दर होता यदि प्रसाद जी इतिहास [illegible] [illegible] के सिद्धान्त को अपना कर मूल कथानक [illegible] [illegible] कथानक का प्रवाह ठीक रूप से चलता और [illegible] कम हो जाने से उनका चित्रण भी ठीक हो जाता।

---

[1] अजातशत्रु की भूमिका

बौद्ध-काल के उत्तरार्द्ध में माण्डलिक शासनों का अन्त हो रहा था और उनका स्थान गुप्त साम्राज्य ग्रहण कर रहा था। चाणक्य के अर्थशास्त्र में यद्यपि हम सात माण्डलिक राज्यों का वर्णन पाते हैं, परन्तु इन मण्डलों के सभापति राजा की पदवी से सम्मानित थे। परिस्थितियाँ भिन्न हो रही थीं। छोटे छोटे राज्य सिकन्दर द्वारा कुचल दिए गए थे। अतएव बड़े-बड़े राज्यों की प्रतिष्ठा होना प्रारंभ हो गया था। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसी कारण से साम्राज्यवाद पर अधिक ज़ोर देता है। छोटे-छोटे राज्यों को हस्तगत करने और उन्हें एक ही सूत्र में पिरो देने का कार्य चन्द्रगुप्त मौर्य्य का था। चन्द्रगुप्त नाटक में इस काल की घटनाओं को एकसूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया गया है। इस कारण नाटककार हमें मगध से लेकर तक्षशिला और मालव तक ले जाता है। इतिहास की इस महान् पृष्ठिभूमि को चन्द्रगुप्त नाटक में बन्द करने के प्रयत्न में नाटककार कार्य-सकलन के सिद्धान्त को ठुकरा देता है। भिन्न-भिन्न राज्यों की घटनाओं और चरित्रों की संख्या बढ़ जाने से नाटक पर आघात पहुँचने लगता है। यदि नाटक के प्रथम तीन अंक अलग कर दिये जावें और उनका नाम 'सिकंदर का भारतीय आक्रमण" रख दिया जाय तो कोई अनौचित्य न होगा। अजातशत्रु के समान इस इतिहास प्रेम का प्रभाव नाटक के चरित्रों पर भी पड़ा है। नाटक की इतनी बड़ी पृष्ठ-भूमि के चित्रण करने में नाटककार को इतिहास-प्रसिद्ध पोरस और सिकन्दर के समान दो विभूतियों का चित्रण करना पड़ा है। लेकिन इतिहास हमें जो इन दो वीरों की निर्भीकता और सौजन्यता का चित्र देता है, वह हमें चन्द्रगुप्त नाटक में नहीं मिल पाता। क्योंकि पोरस का वह इतिहास प्रसिद्ध प्रभावशाली उत्तर चन्द्रगुप्त के गुणों को नीचे दबा देता। सिकन्दर की सहृदयता और उसकी वीरता की तुला पर चन्द्रगुप्त का शौर्य हलका मालूम होता। अतएव साहित्य ने इतिहास पर भी कुठाराघात किया। पोरस का वार्तालाप संक्षिप्त कर दिया गया और उसका रूप बहुत

कुछ बदल दिया गया।

इस महान् पृष्ठभूमि को चित्रण करने के कारण नायक का महत्त्व भी कम हो गया है। चन्द्रगुप्त का स्थान चाणक्य ग्रहण करने लगता है जिसमे अजातशत्रु के समान चन्द्रगुप्त के नायकत्व पर प्रश्न उठने लगता है। चरित्रो की सख्या बढ जाने मे भी मूल चरित्रो के विकास और चरित्र-चित्रण मे भी कमी हो गई है।

स्कन्दगुप्त नाटक इन दोषो मे बच गया है। क्योकि यद्यपि उसमे दो राज्यो की घटनाओ का उल्लेख है फिर भी मालव की घटनाएँ, मगध की घटनाओ के अन्तर्गत ही हैं। मालव मगध के साम्राज्य का एक भाग था। अतएव सम्राट स्कन्दगुप्त के सामने बन्धुवर्मा का आदर्श नहीं टिकता। साथ ही मगध और मालव को एकसूत्र मे बाँधने का कार्य स्कन्दगुप्त का ही है। जिसके कारण स्कन्द के नायकत्व का प्रश्न नहीं उठने पाता। इस नाटक मे ऐसा कोई भी दृश्य नहीं जो केवल इतिहास-प्रेम की ही दृष्टि से लिखा गया हो।

इस प्रकार प्रसाद जी की नाट्यकला का रूप सँवारने मे इतिहास का मुख्य हाथ है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि प्रसाद जी नाटको मे इतिहास लेखक ही रहे हैं कलाकार नहीं। उन्होने अपनी कल्पना मे कई घटनाओ वा पात्रो मे अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया है जो हम आगे चल कर देखेगे।

[illegible]

प्रसाद जी की नाट्यशैली का तीसरा अंग उनकी [illegible] है। पहले कवि और बाद मे नाटककार होने के नाते यदि [illegible] अधिकतर कल्पना का सहारा लेकर बातचीत करते [illegible] परन्तु उनके नाटको की भाषा पूर्ण रूप से [illegible] होगी। कई ऐसे स्थल हैं जहाँ प्रसाद जी [illegible] ही करते हैं। प्रसाद जी के कथन [illegible]

देखेंगे कि उनकी भाषा एक सी नहीं है। चरित्रों के अनुकूल उसमें विभिन्नता है। यह अवश्य है कि प्रसाद जी के चरित्र अन्य नाटककारों के चरित्रों की अपेक्षा साधारण बोलचाल की भाषा से भिन्न कुछ परिष्कृत भाषा, कल्पना तथा अलंकारों का अधिक आश्रय लेते हैं, लेकिन प्रसाद जी की रुचि एक तो उनके विषयानुसार है, दूसरे इस भाषा पर राय बाबू का अधिक प्रभाव है। भावावेश में ही उनकी भाषा कल्पना और अलंकारों का उपयोग अधिक करती है। यौवन में पदार्पण करते हुए सौंदर्य का पुजारी मातृगुप्त अपने प्रेम की प्रथम असफलता की भावाभिव्यक्ति में कवि ही बन जाता है।

"अमृत के सरोवर में स्वर्ण-कमल खिल रहा था। भ्रमर वंशी बजा रहा था सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य्य की किरणें उसे चूमने को लोटती थी, संध्या में शीतल चाँदनी, उसे अपनी चादर से ढँक देती थी। उस मधुर सौंदर्य, उस अतीन्द्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर मैंने हाथ बढ़ाया था, वहीं—वहीं स्वप्न टूट गया।...

"उस हिमालय के ऊपर प्रभात सूर्य की सुनहरी प्रभा से आलोकित बर्फ का पीले पोखराज का सा एक महल था। उसीसे नवनीत की पुतली झाँककर विश्व को देखती थी। वह हिम की शीतलता से सुसंगठित थी। सुनहरी किरणों को जलन हुई। तप्त होकर महल को गला दिया। पुतली उसका मंगल हो, हमारे अश्रु की शीतलता उसे सुरक्षित रक्खे। कल्पना की भाषा के पङ्ख गिर जाते हैं, मौन नीड़ में निवास करने दो। छेड़ो मत मित्र।"

परन्तु ऐसी भाषा का उपयोग सभी स्थलों पर नहीं हुआ। हाँ, यह अवश्य है कि कभी साधारण स्थलों पर जहाँ मनोवेगों के चित्रण करने का स्थान भी न था वहाँ भी प्रसाद जी अलंकृत भाषा का उपयोग करते हैं।

"भगवान की शांत वाणी की धारा प्रलय की नरकाग्नि को

लेकिन ऐसी भाषा की प्रसाद जी को कार्य-निर्वाह के लिए अत्यत आवश्यकता थी। हमारे वर्तमान भारत से भिन्न वे एक स्वर्ण युग का चित्रण कर रहे थे। इस कारण उसे चित्रित करने के लिए कल्पना के रंग से रँगी हुई भाषा का प्रयोग करना आवश्यक था। हमे एक आदर्श भूमि का भान कराने के लिए, हमारी आधुनिक दीन परिस्थितियों से हटाने के लिए, नित्यप्रति की भाषा की उठी हुई भाषा का प्रयोग प्रसाद जी के लिए आवश्यक था। अनेक शताब्दियों के आवरण को हटाकर, हमारे पूर्व युगों का दर्शन कराने का, हमें उस युग मे पहुँचाने का श्रेय प्रसाद जी के ऐतिहासिक ज्ञान को नहीं, उनकी भाषा को है, जिसकी रसात्मकता हमें हमारे साधारण जीवन से दूर एक आदर्श जगत की ओर ले जाती है और जहाँ के पात्र हमारी साधारण बोलचाल की भाषा से भिन्न भाषा में वार्तालाप करते हुए हमें मिलते हैं। प्रसाद जी की नाट्यशैली में उनकी भाषा का विशेष महत्त्व है।

दार्शनिकता

प्रसाद जी के नाटकों की चौथी विशेषता उनकी गभीरता है जो नाटककार के उद्देश्य, प्रकृति और विषय से जनित है। इसी गभीरता के कारण प्रसाद जी के नाटकों मे हास्य का अभाव है। स्कन्दगुप्त के मुद्गल और मातृगुप्त के वार्तालाप में वे अवश्य कुछ सफल हुए हैं। अन्य नाटकों में भी उन्होंने संस्कृत नाटकों के समान विदूषक रखे हैं पर भाषणों का पैटर्न आधुनिक रुचि के अनुकूल नहीं। नाटकों की गभीरता करुण रस के प्राधान्य के कारण है। ये नाटक सुखान्त नहीं कहे जा सकते। ये वास्तव में "ट्रेजी कामेडी"—करुण-सुखान्त नाटक हैं और इस रूप में वे संस्कृत नाटकों के अधिक अनुरूप हैं। अजातशत्रु, बिम्बसार और वासवी की करुण कथा है, जहाँ समाज में विशृंखलता आ गयी है, स्त्रियाँ अपनी स्थिति छोड़ स्वावलम्बी होना चाहती हैं,

पुत्र पिता के विरुद्ध खड़ा होना चाहता है। ऐसे अवसर पर यदि बिम्बसार गंभीर हो "आकाश के नीलेपन पर उज्ज्वल अक्षरों से लिखे हुए अदृष्ट के लेख" पढ़ने लगे तो स्वाभाविक ही है। स्कन्दगुप्त नाटक की आपत्तियों का चिट्ठा है। उसका अन्तिम दृश्य तो करुण रस पूर्ण ही है। स्कन्द की सफलता क्या सुखान्त है? अन्तिम दृश्य में सफलता के सौध में भी वह अपने को अकेला पाता है।

"देवसेना ! देवसेना !! तुम जाओ। हतभाग्य स्कन्दगुप्त, अकेला स्कन्द, ओह !"

देवसेना का वैराग्य उसकी असफलता के ही कारण है। स्कन्दगुप्त नाटक यदि ट्रेजडी नहीं कही जा सकती तो वह कामेडी भी नहीं है। चन्द्रगुप्त नाटक में भी करुण रस की मात्रा अधिक है। संस्कृत नाटकों के आदर्शानुसार, नाटक को सुखान्त करने के लिए नाटककार ने इस असफलता में भी एक नैसर्गिक सफलता अपने पात्रों को दिखाई है। भौतिक सुखों के अभाव को वैराग्य की शान्ति पूरी करती है जिसके कारण नाटक की सारी कथावस्तु में गम्भीरता आ गई है। पात्र दार्शनिक हो उठते हैं, अन्तिम दृश्य तक उन्हें संसार के छल फन्द, भौतिक सुख साधन, हास-उपहास से कोई सरोकार नहीं रहता। परन्तु यह दार्शनिकता पात्रों के चरित्र-विकास के कारण है। पात्र प्रारम्भ से ही दार्शनिक नहीं रहते, और न नाटक ही दार्शनिक कहा जा सकता है।

बहुधा प्रसाद जी के चरित्रों पर एक बाह्य दार्शनिकता का आरोप किया जाता है। अपने आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में प्रसाद जी की आलोचना करते हुए पंडित कृष्णशंकर शुक्ल जी लिखते हैं,

"इनके पात्रों में दोहरा व्यक्तित्व रहता है। वे अपना भी व्यक्तित्व रखते हैं और अपने रचयिता के आदर्शानुसार एक कृत्रिम व्यक्तित्व भी धारण करते हैं। पर सौभाग्य से इन दोनों व्यक्तित्वों का पृथक्करण सरलता से किया जा सकता है। यदि हम पात्रों के कृत्रिम व्यक्तित्व को हटा दें तो उनका निजी [illegible]

व्यक्तित्व स्पष्ट देख सकते हैं। कृत्रिम आरोपित व्यक्तित्व तीन बातों से जाना जा सकता है। प्रसाद जी नियतिवादी हैं। इसका प्रभाव इनके अनेक पात्रों पर पड़ा है। कोई ऐसा नाटक नहीं है जिसमे इसकी दोहाई न दी गई हो। नागयज्ञ मे जरतकारु ऋषि तथा वेदव्यास इत्यादि अदृष्ट की लिपि की घोषणा करते हैं। जनमेजय भी 'मनुष्य क्या है ? प्रकृति का अनुचर और नियति का दास— या उसकी क्रीड़ा का उपकरण' कहता है। स्कन्दगुप्त मे उसका नायक भी कुछ ऐसे ही विचार रखता है। चेतना कहती है कि 'तू राजा है और उत्तर मे जैसे कोई कहता कि तू खिलौना है।' चन्द्रगुप्त मे भी अनेक पात्र नियति का झंडा फहराते हुए आते हैं। चाणक्य ऐसा कर्मवीर भी उसके प्रभाव से नहीं बचा है। उसे भी हम ऐसा कहते हुए सुनते हैं। 'नियति सुन्दरी के भवों में बल पड़ने लगा है' परन्तु हम इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि यह नियतिवाद पात्रों की अपनी विशेषता नहीं है। नियति-नियति चिल्लाते हुए भी वे हाथ पर हाथ रखे नहीं बैठे रहते, जीवन के घमासान युद्ध मे उतरते हैं और ऐसे-ऐसे काड रचते हैं कि हमे चकित रह जाना पड़ता है। ऐसी अवस्था में हमें यही प्रतीत होता है कि वे किसी के सिखाने से नियति का मन्त्र जप रहे थे। वास्तव मे उन्हें कर्म की सामर्थ्य पर अचल विश्वास था।"

प्रसाद जी अदृष्टवादी अवश्य थे। जीवन की परिस्थितियों ने उनका विश्वास नियति मे करा दिया था। जब हमारी परिस्थितियाँ हमारी शक्ति के बाहर रहती हैं और हम उन्हे अपने अनुकूल नहीं बना पाते तभी हम अदृष्ट पर विश्वास करने लगते हैं। प्रसाद जी को भयानक जीवन-संग्राम करना पड़ा था और इस कारण अपनी ही अनुभूति को लेकर यदि प्रसाद जी के चरित्र जीवन-संघर्ष में असफल हो अदृष्ट में विश्वास करे तो यह कृत्रिम व्यक्तित्व नहीं। यह तो एक

मनोवैज्ञानिक परिस्थिति ही समझी जावेगी। साधारण मनुष्य जब अपनी सांसारिक कठिनाइयों में असफल हो अदृष्ट और नियति की पुकार मचाने लगते हैं, तब हम उन पर दार्शनिकता का आरोप नहीं करते। प्रसाद जी के नाटकों का इस रूप में दार्शनिक नाटक समझना भूल है। यह अवश्य है कि उनके कुछ निज के विचार हैं परन्तु प्रत्येक कलाकार का कुछ न कुछ उद्देश्य रहा करता है—उसके कुछ न कुछ जीवन के सिद्धान्त रहा करते हैं—जिन्हें हम कलाकार के दार्शनिक सिद्धान्त कह सकते हैं। परन्तु उनके नाटकों और पात्रों को दार्शनिक कहना भूल है।

कृष्णशंकर जी से मिलते हुए कुछ कुछ विचार प्रोफेसर सत्येन्द्र जी के भी हैं। 'प्रसाद जी के नाटक' नामक लेख में वे लिखते हैं—

"प्रसाद जी के इन सभी नाटकों में एक विशेषता मिलती है, वह विदग्ध व्यग्रता है। सभी पात्रों में एक उत्तेजना व्याप्त है, एक हलचल है और व्याकुलता है—ठीक भीड़ से भरे बाजार में उनके पात्र बिना इधर-उधर देखे हड़बड़ी में धक्का-मुक्की से अपना मार्ग बनाते चलते से और उस सबके लिए अपना कारण और अपनी व्याख्या रखते से चलते हैं। इसलिए उनमें दार्शनिकता भी है। कवि ने झूठ या सच इसी 'विदग्ध व्यग्रता' में अन्तर्द्वन्द्व मानकर सम्भवतः सन्तोष किया है।"[1]

सचमुच यदि प्रसाद जी के पात्र 'बिना इधर-उधर देखे हड़बड़ी में धक्का-मुक्की से' अपना मार्ग बनाते चलते हों तो उनके नाटक पागलों का अजायबघर ही समझा जाना चाहिए, और पात्रों की दार्शनिकता उनकी व्यक्तिगत सनक। प्रसाद जी के बारे में यह आलोचना बड़ी कड़ी है। वास्तव में पात्रों की उत्तेजना घटना के घात-प्रतिघात के कारण होती है। पात्र घटनाओं को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु अदृष्ट कभी कुछ पात्रों की इच्छानुसार नहीं होने देता, इस

---

[1]'प्रसादजी की कला', पृष्ठ ३२-३३

कारण घटनाओं का विकास और पात्रों की कार्यपटुता कहीं-कहीं मेल नहीं खाती। परन्तु यह घटना और पात्रों का संघर्ष आवश्यक है, उसी पर दर्शकों का मनोरंजन और उत्सुकता निर्भर रहती है। लेकिन इस संघर्ष का अन्त भी होना चाहिए, नहीं तो नाटक की समाप्ति ही न होगी। प्रसाद जी के पात्र इसी कारण नियति के साथ ही साथ अपने कर्म में भी विश्वास रखते हैं। उनकी विदग्ध व्यग्रता उनकी क्रियात्मकता के फलस्वरूप है। यह पात्रों की अपनी निजी विशेषता नहीं। इस विदग्ध व्यग्रता को ही पात्रों में अन्तर्द्वन्द्व का कारण समझना भी भूल है। पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व जैसा हम नाटकों की आलोचना करते समय देखेंगे उनके चरित्र की दुर्बलताओं के कारण है।

चरित्र-चित्रण

भारतीय नाट्यकला के अनुरूप इनके नाटकों के नायक सभी उच्चकुलीन राजवंश के हैं। द्विजेन्द्रलाल राय ने चन्द्रगुप्त को नीच जाति का जन्मा हुआ मानकर भी नाटक का नायक बनाया है, लेकिन प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त को क्षत्रिय मानकर ही उसे नायक के पद पर आसीन किया है। नायक नाटक में अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व दोनों का सामना करता है और अन्त में दोनों में सफल भी हो जाता है। अजातशत्रु में अन्तर्द्वन्द्व नहीं है, परन्तु नायक के चरित्र की प्रारम्भिक दुर्बलता (क्रूरता) बाह्य घटनाओं से प्रभावित हो विलीन हो जाती है। बाह्य-द्वन्द्व में भी नायक सफल होकर मगध का राजा बनता है और प्रसेनजित की कन्या से विवाह कर कोशल से मैत्री स्थापित करता है। स्कन्दगुप्त और चाणक्य भी अपने अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व पर विजयी होते हैं। नायक की यह दोनों प्रकार की विजय नाटककार के अनुसार आवश्यक है।

इन नाटकों के प्रतिद्वन्द्वी भी रहा करते हैं, परन्तु ये प्रतिद्वन्द्वी प्रायः राजनैतिक क्षेत्र के ही हैं प्रेम या शृङ्गार के नहीं। प्रतिद्वन्द्वी की मान-

सिक वेदना ही उसका कठोर दण्ड है। क्योंकि ये प्रतिद्वंद्वी केवल खल ही नहीं चारित्रयुक्त भी हैं और इस कारण अपनी भूल समझने पर उनका पछतावा स्वाभाविक ही है नाटक के अन्त मे वे नायक द्वारा क्षमा कर दिये जाते हैं। कहीं-कहीं प्रतिद्वंद्वियों की संख्या अधिक बढ़ जाती है जैसे अजातशत्रु मे।

स्त्री पात्रों के निर्माण मे प्रसाद जी विशेष कुशल है। इन चरित्रों के गठन मे वे पुरुष चरित्रों की अपेक्षा अधिक सफल भी हुए हैं। उनकी प्रारम्भ ही से रुचि नारी के सौंदर्य और प्रेम की ओर रही है, इसी कारण वे देवसेना के समान सुन्दर चित्र अङ्कित करने मे सफल हुए हैं। देवसेना तो नारी की कोमल भावनाओं की मूर्ति है। उसके रूप मे सौंदर्य, संगीत, काव्य, प्रकृति और त्याग वा बलिदान साकार होकर ही बोलने लगा है। हृदय की कोमल कल्पना की यह प्रतिमा हिन्दी साहित्य की ही नहीं, संसार के साहित्य की अनोखी भेंट है। वासवी और देवकी नारियों के नहीं देवियों के चित्र हैं। उनके आदर्श के सामने उनका कोई भी पुरुष पात्र नहीं ठहर पाता। नारियों के चरित्र मे विविधता भी है। यौवन की मदिरा मे प्रमत्त सुवासिनी, महत्वाकांक्षा की पुजारिन विजया, त्याग की मूर्ति देवसेना और मल्लिका कुशल नाटककार के चित्रित पात्र हैं। क्रूरता, स्वावलम्बी और स्वार्थ नारियों के चित्र मे अनन्तदेवी, मागन्धी और छलना भी है, जिनकी पाशविक वृत्तियों से हमारे हृदय पर आघात लगने लगता है, लेकिन उनका आकस्मिक किन्तु स्वाभाविक परिवर्तन हमें नारी जाति की कोमलता और स्निग्धता की ओर ही ले जाता है। प्रसाद जी नारी जाति को सम्मान की दृष्टि से ही देखते रहे हैं। अतएव वे शेक्सपियर की लेडी मैकबेथ के समान चरित्रों के निर्माण मे सदैव ही असमर्थ रहे।

उनके आदर्शानुसार नारी जाति समाज की मूल नींव है। वह अपने प्रेम द्वारा स्वर्ग का सृजन कर सकती है। उनके "राज्य की सीमा विस्तृत है, और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और

कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है जो अन्तर्जगत् का उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहन आवरण दिया है—रमणी का रूप।"

(अजातशत्रु, पृष्ठ १५४)

हृदय की सम्पूर्ण कोमल भावनाओं का मदिर नारी का हृदय है क्रूरता स्त्री जाति का गुण नहीं। "उसे नारी जाति जिस दिन स्वीकृत कर लेगी, उस दिन समस्त सदाचारों में विप्लव होगा।"
अनतदेवी, छलना और मागन्धी ने अपनी नारी-सुलभ कोमलता और स्निग्धता को छोड क्रूर बनने की चेष्टा की थी, फल गृह-विद्रोह, समाज-विद्रोह और देश-विद्रोह ही हुए।

पुरुष पात्रों मे त्याग की जो भावना प्रसाद जी ने रखी है, वही भावना हमे स्त्री पात्रों में मिलती है। परन्तु यह त्याग एक नवीन रूप लेता है। पद्मावती, वासवी, देवसेना, मालविका का त्याग विरक्ति के फलस्वरूप नहीं है यह प्रायः स्त्री सुलभ सौंदर्य और समवेदना की प्रसूति है "यथार्थ मे, स्त्रियों में त्याग की अपेक्षा सेवावृत्ति और अनुकम्पा पर अधिक जोर दिया है। उनका त्याग अधिकतर इन्हीं गुणों से उत्पन्न होता है, पुरुष की भाँति विरक्ति से कम। जहाँ विरक्ति दिखाई गई है वहाँ स्त्री या तो महत्त्वाभिलाषिणी है या पतिता, जिसे अपने जीवन भर निराशाओं और असफलता से मुठभेड करते-करते अन्त में विराग होने लगता है।"[1]

धार्मिक जनों और भिक्षुओं के चरित्र भी ऐतिहासिक होते हुए सुन्दर बन पड़े हैं। गोतम जैसे धर्म्मावलाम्बियों के साथ ही साथ प्रचण्ड बुद्धि, देवव्रत आदि जैसे ढकोसले फैलाने वाले भिक्षुओं के चरित्रों को देख, प्रसाद जी की प्रसूती कल्पना और चरित्र-निर्माण शक्ति पर

[1] शिलीमुख—'प्रसाद की नाट्य-कला', पृष्ठ ६७

आश्चर्य मालूम होता है। चरित्र-चित्रण के बारे में हम ऊपर भी बहुत कुछ कह आये हैं और नाटकों की आलोचना करते समय भी कुछ चरित्रों को देखेंगे, अतएव यहाँ पर केवल इतना ही कह देना उचित होगा कि चरित्रों और घटनाओं का बाहुल्य होने के कारण नाटकों के प्रमुख चरित्रों में न तो परिस्थितियों के अनुसार विकास ही हुआ है और न उनमें अन्तर्द्वंद्व ही है। अधिकतर चरित्र एकांगी ही है।

कथोपकथन

बहुरूपता

कथोपकथन का व्यवहारानुकूल, भावव्यंजक, संघर्षमय और चुस्त होना आवश्यक है। इस विषय में प्रसाद जी बहुत कुशल हैं। उनके पात्रों का वार्तालाप बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक हुआ है। वाणी ही मनुष्य चरित्र की द्योतक है। क्रूरता और शीलता मनुष्य के मुख से ही मालूम होती है।

> "छलना—यह सब जिन्हें खाने को नहीं मिलता उन्हें चाहिए। जो प्रभु हैं, जिन्हें पर्याप्त है उन्हें किसी की क्या चिन्ता जो व्यर्थ अपनी आत्मा दबावें।
>
> वासवी—क्या तुम मेरा भी अपमान किया चाहती हो? पद्मा तो जैसी मेरी, वैसी ही तुम्हारी, उसे कहने का तुम्हें अधिकार है; किन्तु तुम तो मुझसे छोटी हो, शील और विनय का यह दुष्ट उदाहरण सिखा कर बच्चों की क्यों हानि कर रही हो?
>
> छलना—(स्वगत)—मैं छोटी हूँ यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नहीं है! (प्रकट)—मैं छोटी हूँ या बड़ी, किन्तु राजमाता हूँ। अजात को शिक्षा देने का मुझे अधिकार है। उसे राजा होना है! वह भिखमंगों का जो अकर्मण्य होकर राज्य छोड़ कर दरिद्र हो गये हैं उपदेश नहीं ग्रहण करने पायेगा।"
>
> (अजातशत्रु, पृष्ठ ३३-३४)

मनोवैज्ञानिक होते हुए भी कथोपकथन कितना संघर्षमय है। संघर्षमय वार्तालाप ही नाटक के प्राण हैं वही कार्य व्यापार को प्रसारित करता है। कार्य-संचालन कराने का नाटककार के पास यही एक साधन है। वार्तालाप पर चरित्र-चित्रण भी निर्भर रहता है, परन्तु सदैव ही वार्तालाप संघर्षमय होना आवश्यक नहीं है। ब्राह्मणों और साधुओं के वार्तालाप कितने सरल उपदेशात्मक और लम्बे हो गये हैं, क्योंकि स्वभावानुकूल उन्हें नीति और कर्तव्य ज्ञान कराने के लिए विषय की विस्तृत व्याख्या करनी पड़ती है। संघर्षमय न होने के कारण ऐसे वार्तालाप कथानक नहीं बढ़ा पाते इस कारण वे कभी-कभी अरुचिकर होने लगते हैं। अच्छा हो कि ऐसे वर्तालाप छोटे ही हों। करुणा के ऊपर गौतम की व्याख्या कुछ अरुचिकर अवश्य मालूम होती है परन्तु है वह स्वाभाविक। प्रसाद जी ने पात्रों के अनुसार ही उनका वार्तालाप रखा है। दार्शनिक का वार्तालाप उसकी प्रवृत्ति के अनुसार ही है—जो अपने विचारों में अधिक लवलीन रहता है उसे संसार की प्रत्यक्ष घटनाओं का ध्यान ही क्या।

"दाण्डायन—पवन एक क्षण विश्राम नहीं लेता, सिंधु की जलधारा बही जा रही है, बादलों के नीचे पक्षियों का झुंड उड़ा जा रहा है, प्रत्येक परमाणु न जाने किस आकर्षण में खीचे चले जा रहे हैं। जैसे काल अनेक रूप में चल रहा है। यही तो. ...

एनि०—महात्मन्!

दाण्डायन—चुप रहो, सब चले जा रहे हैं, तुम भी चले जाओ। अवकाश नहीं अवसर नहीं।

एनि०—आपने कुछ ..

दाण्डा०—मुझसे कुछ मत कहो। कहो तो अपने आप ही कहो, जिसे आवश्यकता होगी सुन लेगा। देखते हो, कोई किसी की सुनता है। मैं कहता हूँ—सिंधु के एक बिन्दु! धारा में न बहकर मेरी बात सुनने के लिए ठहर जा, वह सुनता है? ठहरता

है ? कदापि नहीं ।"

कथनोपकथन की भाषा रस-सचार मे भी सहायक होती है। चरित्रो के मनोवेगो द्वारा उसका रूप आप से आप बदलता रहता है। यौवन के पदार्पण काल मे प्रेम का प्रथम कटु अनुभव मातृगुप्त को कवि बना देता है, "अमृत के सरोवर मे स्वर्ण कमल खिल रहा था, भ्रमर वंशी बजा रहा था, सौरभ और पराग की चहल-पहल थी। सवेरे सूर्य की किरणें उसे चूमने को लौटती थीं, सन्ध्या मे शीतल चाँदनी उसे अपनी चादर मे ढँक देती थी। उस मधुर सौंदर्य, उस अतीन्द्रिय जगत की साकार कल्पना की ओर मैने हाथ बढ़ाया था वहीं-वहीं स्वप्न टूट गया।" परन्तु कर्तव्य के कठोर पथ मे उसके शब्द सरल कल्पनाहीन और वाक्य छोटे हो जाते हैं।

क्रोध का कितना सुन्दर चित्रण वार्तालाप द्वारा हुआ है—

"रक्त के पिपासु ! क्रूरकर्मा मनुष्य ? कृतघ्नता की कीच का कीड़ा। नर्क की दुर्गन्ध ! तेरी इच्छा कदापि पूर्ण न होने दूँगी।"

पागलपन का भी चित्र देख लीजिए—

"रामा—लुटेरा है तू भी ! क्या लेगा, मेरी सूखी हड्डियाँ ? तेरे दाँतों से टूटेंगी ? देख तो—(हाथ बढ़ाती है)।

स्कन्द०—कौन ? रामा !

रामा—(आश्चर्य से) मैं रामा हूँ। हाँ, जिसकी सन्तान को हूणों ने पीस डाला ...."

दुःख से पागल हुए शकटार को भी सुन लीजिए—

'दुःख ! दुःख का नाम सुना होगा, या कल्पित आशंका से उसका नाम लेकर चिल्ला उठते होंगे। देखा है कभी, सात-सात गोद के लालों को भूख से तड़प कर मरते ? अन्धकार की घनी चादर में बरसों भूगर्भ की जीवित समाधि में एक दूसरे को अपना आहार देकर स्वेच्छा से मरते देखा है। प्रतिहिंसा की स्मृति को,

ठोकरें मारकर जगाते-जगाते, और प्राण विसर्जन करते ? देखा है कभी यह कष्ट ! उन सबों ने अपना आहार मुझे दिया और पिता होकर भी मैं पत्थर-सा जीवित रहा ! उनका आहार खा डाला, उन्हें मरने दिया .. ।"

मनोवेगानुसार पात्रों की भाषा मे यह परिवर्तन होना अधिक आवश्यक है। अतएव प्रसाद जी की भाषा के विषय मे यह धारणा कि उसमें अनेकरूपता नहीं बड़ी भूल है। हाँ, यह अवश्य है कि उन्होंने संस्कृत की तत्सम पदावली को छोड अन्य भाषा का उपयोग नहीं किया। पर लेखक की यह असमर्थता उसकी कला के अनुरूप ही है प्रतिकूल नहीं। प्रसाद जी के नाटक भव्य भारत के चित्र हैं जो हमारे आज के दीन-हीन, परतंत्र, असहाय भारत से भिन्न हमारे उत्कर्ष के सुन्दर चित्र हैं। जो हमारे लिए एक आदर्श, एक कल्पना, एक स्वर्गीय आनंद का लोक बन गया है। इस लोक को दीप्तमान रंगों द्वारा ही अंकित किया जा सकता है। सामान्य बोलचाल की भाषा उसे हमारे नित्यप्रति के जीवन से ऊपर न उठा सकेगी अतएव उस नैसर्गिक जगत का निर्माण बहुत कुछ प्रसाद जी के भाषा-सौष्ठव और कोमलकान्त पदावली द्वारा हुआ है। इन पूर्व युगों के अंकन करने की सफलता बहुत कुछ उनकी भाषा पर है।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं प्रसाद जी ने अपने इस संकुचित क्षेत्र मे भी भाषा की अनेकरूपता रखी है। जिसके कारण वार्तालाप बहुत ही स्वाभाविक हुआ है। प्रोफेसर सत्येन्द्र जी ने अपने लेख में प्रसाद जी की भाषा पर नोट लिखते हुए कहा है कि इनके "सभी पात्र एक-सी भाषा बोलते हैं, ग्रीक, चीनी शक, हूण, उत्तरी, पश्चिमी, दक्षिणी, सब उनके रंगमंच पर आकर एकभाषी हो जाते हैं।" नाटककार हिन्दी मे नाटक लिख रहा है। उसके लिए अभारतीय भाषा का प्रयोग करना आवश्यक नहीं. कोई भी पाठक व दर्शक इन भाषाओं को कैसे समझ सकता है ? यह तो नाट्यकला के मूल सिद्धान्तों मे से

एक है। यदि नाटककार को पूर्ण स्वाभाविकता या ऐतिहासिकता रखनी होती तो अच्छा होता वह तत्कालीन संस्कृत, पालि, अपभ्रंश आदि का उपयोग करता, परन्तु उसका यह कार्य कला के प्रारम्भिक सिद्धान्तों के विपरीत हो जाता। नाटककार हिन्दी में नाटक लिख रहा है। वह भाषा-विज्ञान का प्रदर्शन नहीं कर रहा है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रसाद जी ने प्रान्तीय बोलियों का उपयोग नहीं किया। परन्तु इसका कारण हम ऊपर ही लिख आये हैं।

पद्य का प्रयोग

प्रसाद जी के कथनोपकथन में खटकने वाला एक दोष है और वह है पात्रों का गद्य में बात करते-करते पद्य में बोलने लगना। पूर्व नाटकों में यह प्रवृत्ति अधिक है। परन्तु पारसी नाटक कम्पनियों की भाँति तुकबन्दीबाजी और शेरबाजी इनके उत्तर नाटकों में नहीं मिलती। प्रारम्भिक नाटकों में प्रसाद जी संस्कृत नाटकों से प्रभावित थे साथ ही उस समय के नाटककारों में भी यह प्रवृत्ति अधिक थी। बंगाली नाटकों के अनुवादों ने इस गद्य-पद्य के मिश्रण में सुधार कर दिया। भारतेन्दु जी के नाटकों में स्फुट कविताएँ अधिक हैं। राधेश्याम जी कथावाचक, माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण भट्ट के नाटकों में भी गद्य-पद्य का मेल अधिक है। प्रसाद जी की प्रतिभा इस गद्य-पद्य के कम प्रयोग में ही है। उनके परवर्ती या समकालीन नाटकों के देखने से तो उनकी [illegible]बाजी प्राय नहीं के बराबर ही मालूम होती है। प्रसाद जी ने अपने [illegible] के उपयोग में थोड़ा परिष्कार भी कर दिया है। पद्य का प्रयोग [illegible] ने साधारण बातचीत या घटना वर्णन के लिए नहीं किया है। [illegible] उपयोग प्रायः सूक्तियों के ही रूप में है। [illegible] में [illegible] होती है—

"यह मैं क्या देख रही हूँ। इतना यह गृह-विद्रोह की आग तू क्यों जलाना चाहती है? राजपरिवार में क्या सुख अपेक्षित नहीं है?

वच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बडा उनके मन मे,
कुल लक्ष्मी हों मुदित, अरु हो मगल उनके जीवन मे।
बन्धु वर्ग हो सम्मानित, हों सेवक सुखी प्रणत अनुचर,
शातिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हो क्यों घर ?"

समुद्रगुप्त को भेजती हुई श्यामा कहती है—

"श्यामा—जाओ वलि के वकरे जाओ, फिर कभी न आना। मेरा शैलेन्द्र, मेरा शैलेन्द्र—
तुम्हारी मोहनी छवि हर निछावर प्राण हैं मेरे,
अखिल भूलोक बलिहारी मधुर मृदुहास पर तेरे।"
अथवा "तो इससे क्या ! हम अपना कर्तव्य पालन करते हैं, दुख से विचलित तो होते नहीं।
लोभ सुख का नहीं, न तो डर है,
प्राण कर्तव्य पर निछावर है।"

ये पद्य की पक्तियाँ एक प्रकार से लोक-प्रसिद्ध उक्तियाँ ही मालूम होती हैं। ऐसे अवसर हमारे जीवन मे भी आते हैं। जब हम कभी-कभी किसी दोहे आदि का प्रयोग अपनी बातचीत मे कर देते हैं। पद्य का सम्बन्ध पात्रों के वार्तालाप से है अवश्य, लेकिन परोक्ष रूप में। अन्य स्थलों पर भी जहां नाटककार ने ऐसे पद्यों का उपयोग किया है वहाँ इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि पद्य की पक्तियाँ पात्रों की स्वय की रचना न मालूम हो जो वह गद्य की बात को पूरा करने के लिए उसी अवसर पर रचना जा रहा हो। गोतम का यह कथन साधुओं के कितने स्वभावानुकूल हुआ है। परन्तु ये गोतम की आशु-कवियों के समान तत्कालीन रचना नहीं मालूम होती।

"राजन् ! कोई किसी को अनुगृहीत नहीं करता। विश्व भर मे यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है जो प्राणिमात्र में समदृष्टि रखती है।

गोधूली की राग पटल मे स्नेहाचल फहराती है।
स्निग्ध उषा के शुभ्र गगन मे हास विलास दिखाती है॥
मुग्ध मधुर बालक के मन पर चन्द्रकान्ति बरसाती है।
निर्निमेष ताराओं से वह ओस बूँद भर लाती है॥"

ये पंक्तियाँ या तो पूर्व रचित मालूम होती हैं। या अन्य कवि की रचना जिनका उपयोग वे अपने विचारो को स्पष्ट करने के लिए करते हैं।

उदयन और मागन्धी के वार्तालाप से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जावेगी।

"उदयन — हृदयेश्वरी! कौन मुझ को तुम से अलग कर सकता है
हमारे वक्ष मे बनकर हृदय जब छवि समावेगी,
स्वर्ग निज माधुरी छवि का रसीला गान गावेगी।
अलग तब चेतना ही विश्व मे कुछ रह न जावेगी,
अकेले विश्व-मंदिर मे तुम्हीं को पूज पावेगी।"

ये पद्य भाग उदयन के हृदय के भावो का उतना अच्छा चित्रण नहीं करता जितना किसी छायावादी कवि के हृदय का। उदयन का मागन्धी के लिए—

"अलग तब चेतना ही विश्व में कुछ रह न जावेगी,
अकेले विश्व-मंदिर मे तुम्हीं को पूज पावेगी।"

[illegible]ना कुछ हास्यप्रद मालूम होता है। यह तो किसी भक्त की वाणी [illegible] होती है जो अपने अस्तित्व को परमात्मा में मिलाकर उसी [illegible] मे उसी एक परमात्मा की छवि की आराधना में लगाना चाहती [illegible] उदयन का यह कथन उसी समय ही स्वाभाविक हो सकता है जब इन पंक्तियों को किसी अन्य कवि की रचना ही समझा [illegible] जिनका [illegible] उसने अपने भावों की समानता समझाने के लिए ही किया [illegible]। ठीक यही मत श्यामा के इस कथन के बारे में भी है—

"श्यामा—ओह! विष! फिर तुम कहाँ हो। मैं बहुत पी चुकी हूँ अब... जल... भयानक स्वप्न। क्या तुम मुझे जगा[illegible]

हुए हलाहल की मात्रा पिला दोगे ।

अमृत हो जायगा विष भी पिला दो हाथ से अपने,
पलक ये छक चुके हैं चेतना उसमे लगी कँपने ।
विकल हैं इन्द्रियों—हाँ देखते इस रूप के सपने;
जगत् विस्मृत हृदय पुलकित, लगा वह नाम है जपने

इस प्रकार यह गद्य-पद्य का प्रयोग कहीं भी अस्वाभाविक वा हास्यप्रद नहीं होने पाया है। उन्होंने कही भी अन्य नाटककारों की भाँति पद्य का प्रयोग साधारण बातचीत को व्यक्त करने के लिए नहीं किया। ऊपर के उदाहरणों से कितने भिन्न हैं।

(१) चन्द्र०—रणधीर, यह क्या है—तुम आर्य हो फिर भी तुम्हारी इसकी ऐसी मित्रता !

रणधीर०—महाराज, क्या कहूँ मित्रता, है दैवी वरदान
है अपूर्व आल्हाददायिनी यथा स्वर्ग का गान।

\+ + +

(२) अलक०—महाराज, शोक है कि कोई उत्तर देने वाला न था और (क्रोध से)

कभी मिला तो उसके तन का खड-खड कर उत्तर दूँगा।
और क्या कहूँ ? शठ यवनों से रण प्रचड कर उत्तर दूँगा।

(३) सिपाही—श्रीमान की जय ! कप्तान रणधीर सिह
विक्रम+रण दुर्मद रणधीर ! वीर तुम धन्य हो
शत्रु हृदय के तीर ! वीर तुम धन्य हो।
(देखता हुआ) क्या ? बुरी तरह घायल हुआ है ?

एक सिपाही—मान्यवर !

छाती में नो घाव, खड्ग के खाने वाले
नस शरीर बिंध गया न पीठ दिखाने वाले
कटी जाँघ, बेकाम हो गया बाँया कर भी
लड़ गये, लेकिन इतने घायल होकर भी।

हाँ, रिपु की हँसी करता हुआ, जब रक्त बहुत निकल गया
तब हो अचेत गिरे—अहो मुँह वीरता का फुट गया।

स्वगत

नाटककार के लिए हृदय के भावों को प्रगट करने के लिए स्वगत का उपयोग बहुत ही आवश्यक हो जाता है। परन्तु स्वगत का उपयोग कुछ अस्वाभाविक-सा मालूम होता है। दूर बैठे हुए दर्शक तो पात्रों का स्वगत सुन लेते हैं, परन्तु रंगमंच पर खड़ा हुआ दूसरा पात्र नहीं सुनने पाता। अतएव सफल नाटककार ऐसे अवसरों को अपने नाटकों में कम ही लाते हैं। राय महोदय ने अपने नूरजहाँ नाटक में स्वगत का प्रयोग बिलकुल ही नहीं किया है। यद्यपि उनके लिए नूरजहाँ में एक ओर स्वामिभक्ति और दूसरी ओर सम्राज्ञी होने की लालसा के संघर्ष का चित्रण करने के लिए स्वगत का उपयोग अनिवार्य था। परन्तु अस्वाभाविकता के डर से उन्होंने अपने कौशल द्वारा उसको दूसरे रूप में प्रगट कर दिया है। स्वगत का उपयोग प्राचीन नाटकों में भी किया जाता था। पूर्व और पश्चिम नाट्यशास्त्र इसे Poetic license मानते हैं, परन्तु नाटककार का कौशल इसी में है कि वह इसका बहुत ही कम उपयोग करे। प्रसाद जी के ऐतिहासिक नाटकों में स्वगत का उचित उपयोग नहीं हुआ है। कुछ स्थानों पर तो नाटककार थोड़े ही कौशल से स्वगत हटा सकता था।

यथा—

"छलना—(स्वगत)—मैं छोटी हूँ। यह अभिमान तुम्हारा अभी गया नहीं है। (प्रकट) मैं छोटी हूँ या बड़ी, किन्तु राजमाता हूँ। स्वगत की बात इतना स्पष्ट भी [illegible] प्रकट कथन से किसी प्रकार कम नहीं है। [illegible] —

जीवक—(स्वगत) यह विषधर इस समय [illegible] आ गया। भगवान्, किसी तरह टले।

यदि लेखक चाहता तो इस कथन को वार्तालाप में ही रख सकता था। इसी प्रकार—

"प्रसेन—(स्वगत) अभी से इसका गर्व तोड देना चाहिए" की आवश्यकता न थी। प्रसेन के प्रकट कथन से कि "आज से यह निर्भीक किन्तु अशिष्ट बालक अपने युवराज पद से वंचित किया गया ..." स्वगत का काम चल सकता है। लेखक यदि चाहता तो इन स्वगत कथनों को या तो बिलकुल ही हटा सकता था या उनमें कुछ परिवर्तन कर उन्हें अधिक स्वाभाविक बना सकता था। परन्तु मालूम होता है कि नाटककार ने उन्हे कवि की स्वच्छन्दता समझकर इनकी अस्वाभाविकता की ओर ध्यान नहीं दिया।

कभी-कभी नाटकों में, अपने भावों को व्यक्त करने के लिए या पिछली या आगे आनेवाली घटना के सूचनार्थ एक-दूसरे प्रकार के स्वगत का उपयोग किया जाता है। इसमे पात्र स्वगत मे ही बोलता है, परन्तु दूसरे पात्रों के सम्मुख नहीं। स्वाभाविकता की दृष्टि से यह भी एक दोष है। क्योंकि यह पात्रों का चिन्तन न होकर बड़बडाना हो जाता है। संघर्षात्मक न होने के कारण ऐसे कथन जितने ही छोटे हों उतने ही अच्छे। बिम्बसार का अकेले बैठे-बैठे बडबडाना दर्शकों को बहुत ही खराब मालूम होगा। अच्छा होता यदि बिम्बसार का यह कथन—"आह जीवन की क्षणभंगुरता.... ." आदि संक्षिप्त कर दिया गया होता। स्कन्द का स्वगत "अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है. . ." संक्षिप्त होने के कारण उतना नहीं खटकता। वाजरा का भी स्वगत बहुत लम्बा है। यदि इस स्वगत को नाटककार ने देवसेना और विजया की बातचीत के समान दो सखियों के वार्तालाप में परा दिया होता तो दर्शकों और पाठको दोनों की दृष्टि से दृश्य अधिक मनोरंजक हो जाता और अस्वाभाविकता भी न रहती। अजातशत्रु का नाटककार अभी अपनी कला में परिपक्व नहीं हुआ है। बाद के नाटकों में ये दोष कम मिलते हैं।

संगीत

नाटक की रचना कथोपकथन संगीत और नृत्य पर ही निर्भर है। गीत रंगमंच पर मनोरंजक के सबसे सुन्दर साधन हैं। उनकी स्थानीय उपयुक्तता और भावप्रदर्शन नाटक के दृश्यों को और भी अधिक तीव्र बना देते हैं। प्रसादजी के नाटकों में बहुत ही सुन्दर गीत भरे पड़े हैं। कल्पना भावुकता और रसात्मकता में ये गीत शेक्सपियर के गीतों से किसी प्रकार कम नहीं हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि शेक्सपियर इसी पार्थिव संसार के दृश्यों को लेकर ही गीत-रचना करता है। भावावेश में वह कल्पना जगत में विचरण करते हुए भी इस संसार को नहीं छोड़ता। उनमें एक प्रकार की ग्रामीणता है। परन्तु प्रसाद जी के गीत भौतिक जगत से प्रारंभ होकर "क्षितिज के उस पार" अनजान जगत में पहुँचते हैं। हमारी आत्मा प्रकृति और मानव के लोभगम्य भाव और सौंदर्यानुभूति से धीरे-धीरे उठकर अनन्त शून्य में मिलती है। उदयन के तिरस्कार से दुखी पद्मा जब वीणा बजाने बैठती है और प्रयास करने पर भी जब उसमें से स्वर नहीं निकलते तो उसकी भावना करुण रूप लेकर एक मधुर गीत के रूप में निकल पड़ती है।

> मींड़ मत खिंचे बीन के तार।
> निर्दय अंगुली! अरी ठहर जा,
> पल भर अनुकम्पा से भर जा,
> यह मूर्छित मूर्छना आह सी,
> निकलेगी निस्सार।

गाते-गाते भावविभोर होकर पद्मावती की [illegible] पहुँच जाती है—

> "नृत्य करेगी नग्न विकलता
> परदे के उस पार"

इस रहस्यवाद ने उनके गीतों को [illegible] दिया है— केवल मानवी जगत के करुण गीत नहीं हैं [illegible]

का दुःख नहीं है. उनमें है असीम के प्रति ससीम की पुकार—परमात्मा के लिए आत्मा की लालसा। परन्तु प्रसाद जी के सभी गीत रहस्यवादी नही हैं, उनके बहुत से गीत स्थूल जगत के प्रेम और सौंदर्य से संबध रखते हैं।

प्रसाद जी के गीत विषय के अनुसार मुख्यतः दो भागों मे बाँटे जा सकते हैं—(१) रहस्यवादी तथा रहस्यवाद की झलक लिए हुए, (२) अन्य—

(१) पूर्ण रहस्यवादी गीत

(अ) आओ हिये मे अहो! प्राण प्यारे।

(अजातशत्रु)

(आ) भरा नैनों में मन में रूप
किसी छलिया का अमल अनूप।

(स्कन्दगुप्त)

(इ) बहुत छिपाया उफन पड़ा अब सम्हालने का समय नहीं है॥

. . ..

जली दीप-मालिका प्राण की हृदय कुटी स्वच्छ हो गई है॥
पलक पांवड़े बिछा चुकी हूँ न दूसरा और भय नहीं है॥
चपल निकल कर कहाँ चले अब इसे कुचल दो मृदुल चरण से॥
कि आह निकले दबे हृदय से भला कहो यह विजय नहीं है॥

(२) रहस्यवाद की झलक मात्र लिये हुए
(अ) चली चल प्रेममयी रजनी।
(आ) सुधा सीकर से नहला दो।
(इ) ओ मेरे जीवन की स्मृति, ओ अन्तर के आतुर अनुराग

(३) अन्य
(अ) शृंगार वा प्रेम—

इन गीतों मे प्रसाद जी संगीत, सौंदर्य-वासना और रूप-चित्रण मे कवि कालिदास से भी आगे बढ़ गये हैं।

(१) अली ने क्यों अवहेला की।

(२) प्यारे निर्मोही होकर.

(३) हमारे जीवन का उल्लास।

(४) न छेड़ना उस अतीत स्मृति के
खिचे हुए बीन तार कोकिल।

(५) घने प्रेम तरु तले।

(६) संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना
वह उच्छृंखलता थी अपनी कहकर मन मत बहलाना।

(७) शून्य गगन में ढूंढ़ता जैसे चन्द्र निराश
राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश

(८) भावनिधि में लहरियों उठती कभी
भूल कर भी स्मरण हो जाता कभी।

(९) अगरु धूम की श्याम लहरियों उलझी हों इन अलकों से
मादकता लाली के डोरे इधर फंसे हों पलकों से।

(१०) उमड़ कर चली भिगोने आज
तुम्हारा निश्चल अंचल छोर।

(११) आह वेदना मिली विदाई।

(१२) तुम कनक किरण के अन्तराल में
लुक छिपकर चलते हो क्यों।

(१३) प्रथम यौवन मदिरा के मत्त, प्रेम करने की थी परवाह
और किसको देना है हृदय चीन्हने की न तनिक थी चाह

(१४) आज इस यौवन के माधवी कुंज में
कोकिल बोल रहा है।

(१५) कैसी कड़ी रूप की ज्वाला।

(१६) बज रही बंशी आठों याम की।

(१७) बिखरी किरन अलक व्याकुल हो, विरस बदन पर
चिन्ता लेख।

(आ) प्रकृति

(१) चला है मन्थर गति से पवन रसीला नन्दन कानन का।

(२) अलका की किस विकल विरहिणी के पलकों का ले अवलंब।

(३) चल वसंत बाला अंचल से किस घातक सौरभ से मस्त

(इ) प्रार्थना

(१) दाता सुमति दीजिये।

(२) स्वजन दीखता न विश्व में अब।

(३) उतारोगे अब कब भू भार।

(ई) नीति और व्यवहार

(१) न धरो कह कर इसको अपना
यह दो दिन का है सपना।

(२) स्वर्ग है नहीं दूसरा और।

(३) सब जीवन बीता जाता है धूप-छाँह के खेल सदृश्य।

(४) पालना बनें प्रलय की लहरें।

(उ) देशभक्ति

(१) अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को, मिलता एक सहारा।

(२) हिमालय के आँगन में, उसे प्रथम किरणों का दे उपहार
उषा ने हँस अभिनंदन किया और पहनाया हीरक हार।

प्रसाद जी के गीतों की नाटकीय उपयोगिता में क्रमशः विकास होता गया है। प्रारम्भ की रचनाओं में गीत अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। वे स्थान, पात्र और समयानुकूल नहीं हैं। अधिकतर वे कवि की स्वतन्त्र रचनायें ही मालूम होती हैं जो उन्होंने बाद में नाटक में रख दी हैं। यह दोष एक ओर तो गीतों में रहस्यवाद की झलक के कारण मालूम होता है दूसरी ओर पात्रों के वार्तालाप को बलात् ही गीतों से मंडित करने के प्रयत्न से। दूसरे प्रकार के दोष का एक उदाहरण

अजातशत्रु के आठवें दृश्य में है जहाँ श्यामा अपना परिचय देती है। यह परिचय गीत एक स्वतंत्र रचना-सी मालूम होती है जिसे रखने के लिए ही मालूम होता है शैलेन्द्र श्यामा से पूछता है, "तुम क्या हो सुन्दरी ?" और श्यामा गीत गाकर परिचय देती है। एक और दूसरा गीत विरुद्धक का जलद के प्रति है। इसमें सन्देह नहीं कि विरुद्धक का निर्मूल विश्वास कि मल्लिका उससे प्रेम करती है उसकी प्रासंगिक भावाभिव्यक्ति के अनुकूल है।

"आर्द्र हृदय में करुण कल्पना के समान आकाश में कादम्बिनी घिरी आ रही है। पवन से उन्मत्त आलिङ्गन से तरुराजि सिहर उठती है। झुलसी हुई कामनाएँ मन में अंकुरित हो रही हैं। क्यों ? जलदागमन से ? आह !

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब" आदि केवल नील नीरद की ओर ही संकेत करता है।

अजातशत्रु के कुछ गीत बहुत सुन्दर हैं, वे परिस्थिति, पात्र और समय का ध्यान रखकर लिखे गये हैं। मागन्धी का "स्वजन दीखता न विश्व में अब न बात मन में समाय कोई" वाला गीत [illegible] हुआ भी मागन्धी की आन्तरिक परिस्थिति के अनुकूल ही है। [illegible] में मागन्धी का कोई स्वजन न रह गया था। [illegible] परिवर्तन की इच्छा उसे इतनी विषमता में ले आई थी। [illegible] स्वर्ग में उसे प्रथम बार ही करुणा का ज्ञान हुआ और [illegible] वह अनन्त की ओर निहारने लगी थी।

क्षणिक वेदना अनन्त सुख बस समझ [illegible]
पवन पकड़ कर पता बताने न लौट आया न जाय कोई।

[illegible] अजातशत्रु के सबसे सुन्दर [illegible] मानसिक वेदना से निकला हुआ उच्छ्वास [illegible] अपनी वेदना से [illegible] उदयन के तिरस्कार से दुःखी [illegible]

तो मानों उसकी असमर्थता ही व्यक्त होकर गीत के रूप में निकल पड़ती है "मीड़ मत खिंचे बीन के तार"। असमर्थता का दुःख और भी तीव्र हो जाता है। पीड़ा की कसक और भी विकट हो पड़ती है।

निर्दय अंगुली अरी ठहर जा,
पल भर अनुकम्पा से भर जा।
यह मूर्छित मूर्छना आह सी
निकलेगी निस्सार।

पद्मा के भावों, उसकी मानसिक वेदना और असमर्थता को गीत द्वारा जितने सुन्दर रूप में व्यक्त किया गया है वह अद्वितीय है।

चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त में गीतों की रचना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। भावों की कोमलता और शब्दों की मधुरता जब ध्वनि की सुकुमारता, कल्पना की नवीनता और छन्दों की बहुरूपता से मिलती है तो गीत सर्वांग सुन्दर हो उठते हैं। चित्र, काव्य और संगीत मानो अपनी सत्ता भूलकर एक हो जाते हैं। उनकी नाटकीय उपयोगिता भी अधिक हो जाती है। नाटक की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, वातावरण और साथ ही पात्रों की भावनाओं से वे ऐसे सम्बद्ध हो गये हैं कि वे प्रारम्भिक नाटकों के गीतों की भांति स्वतंत्र गीत नहीं कहे जा सकते वे पूर्ण रूप से नाटक के रूप में ही मिल गये हैं। कथावस्तु से सम्बन्ध रखनेवाला गीत हमें चन्द्रगुप्त नाटक में मिलता है। सुवासिनी, रूप, सौदर्य और संगीत की रानी ने, जब गाना प्रारम्भ किया—

आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा।
मधु पीकर पागल हुआ करता प्रेम-प्रलाप,
शिथिल हुआ जाता हृदय जैसे अपने आप
लाज के बंधन खोल रहा!
बिछल रही है चाँदनी छवि मतवाली रात,
कहती कम्पित अधर से बहकाने की बात
कौन मधु मदिरा घोल रहा?

यौवन के इस उन्माद में, इस असंयत रस-प्रवाह में कौन न बह जाता ? यौवन की कामनाएँ अंकुरित होकर खिलना चाहती हैं, मतवाली चाँदनी रात अपने कम्पित अधरों से बहकाने की बात कर रही है। लाज के बंधन आपसे आप खुलते जा रहे हैं। वासना के इस उठते हुए स्पष्ट स्वर को सुन कर भला नंद का हृदय कैसे स्थिर रह सकता था। उसने सुवासिनी का हाथ पकड़ लिया। राक्षस के आगमन से नन्द लज्जित हो जाता है, परन्तु यह घटना राक्षस के हृदय में नन्द के प्रति सन्देह पैदा कर देती है। यदि सुवासिनी इतना मादक गान न गाती तो सम्भव था यह घटना न होती। कथा-प्रवाह बढ़ाने में गीतों का यह प्रयोग सुन्दर हुआ है।

चरित्र चित्रण के लिए भी प्रसाद जी ने गीतों का प्रयोग किया है। कार्नेलिया का "अरुण यह मधुमय देश हमारा" उसके भारत-प्रेम का द्योतक है। परन्तु इससे भी सुन्दर उदाहरण अलका और सिंहरण के प्रेम का है। वास्तव में उन दोनों का प्रेम "प्रथम यौवन मदिरा से मस्त, प्रेम करने की थी परवाह, और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह" के रूप में ही हुआ है। सुवासिनी के गाए गीत उसके चरित्र के एक अंग हैं। उसका चल-चित्र परिवर्तित मनोभावों के चित्रों को व्यक्त करने में वे अधिक सफल हुए हैं। [illegible] से मस्त सुवासिनी का यह गीत उसके जीवन-[illegible] [illegible], उस [illegible] उसके स्वभाव के कितने अनुकूल हुआ है—

भरा नैनों में मन में रूप

से जनित, हृदय की क्षुब्धता को व्यक्त करती हुई देवसेना कहती है—

"संगीत सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूप-दान की एक क्षीण गंध धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों के प्रतिकृति मेरा क्षुद्र नारी जीवन ! मेरे प्रिय गान । अब क्यों गाऊँ और क्या सुनाऊँ ? इस बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है, क्या बल है जो खींचता है ? केवल सुनने की ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनंत काल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है ।"

परन्तु हृदय की भावना जब पूर्ण व्यक्त न हुई तो मानों देवसेना गाकर अपनी व्यथा बाहर निकाल देना चाहती है—

> शून्य गगन में ढूँढ़ता जैसे चन्द्र निराश,
> राका में रमणीय यह किसका मधुर प्रकाश ।
> हृदय ! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझ में,
> मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझसे न कुछ मुझमें ।
> रस-निधि में जीवन रहा, मिटी न फिर भी प्यास,
> मुँह खोले मुक्तामयी सीपी स्वाती आस ।
> हृदय तू है बना जलनिधि लहरियाँ खेलती तुझमें,
> मिला अब कौन सा नवरत्न जो पहले न था तुझमें।

जीवन भर की असफलता उसकी चिरवेदना हो जाती है, उसका सम्पूर्ण जीवन ही करुण हो जाता है। अन्तिम दृश्य का गीत अन्य गीतों से कितना भिन्न है, भाषा का कारुण्य और धीमी-धीमी स्वर लहरी मानो वेदना का प्रतीक ही हो उठती है। जीवन की निराशा से जनित अवसाद में भविष्य की आशा से विदा लेती हुई देवसेना कहती है—

"हृदय की कोमल कल्पना ? सो जा, जीवन में जिसकी संभावना नहीं, जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है ? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा सब से मैं विदा लेती हूँ—

आह वेदना मिली विदाई
मैंने भ्रमवश जीवन संचित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।
छल छल थे संध्या के श्रमकण,
आँसू से गिरते थे प्रतिक्षण,
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनंत अँगड़ाई।
श्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन विपिन की तरु छाया में,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने
यह विहाग की तान उठाई।
लगी सतृष्ण दीठ थी सबकी,
रही बचाये फिरती कबकी,
मेरी आशा आह ? बावली,
तूने खो दी सकल कमाई।
चढ़ कर मेरे जीवन रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर,
मैंने निज दुर्बल पद बल पर,
उससे हारी होड़ लगाई।
लौटा लो यह अपनी थाती
मेरी करुणा हा हा खाती,
विश्व ? न सँभलेगा यह मुझसे
इससे मन की लाज गँवाई।”

निकल पड़ी है—

संसृति के वे सुन्दरतम क्षण यों ही भूल नहीं जाना
वह उच्छृङ्खलता थी अपनी कह कर मन मत बहलाना।
... आदि आदि

परिस्थितियों के घात-प्रतिघात ने ऐन्द्रिय प्रेम को देश-प्रेम में मोड़ दिया यौवन की उच्छृङ्खलता देश के कर्तव्य में परिवर्तित हो गई। प्रथम अंक का कामुक कवि अपने वीर गीतों से लोगों के रक्त को खौला देता है—

वही है रक्त वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान,
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान
जियें तो सदा इसी के लिए, यही अभिमान रहे यह हर्ष,
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

छंद की द्रुतता और उसी की पुनरुक्ति हृदय में एक हलचल मचा देती है। यौवन की मादकता में निकला हुआ वासना का सुकुमार गीत कर्तव्य-पथ पर डटे वीर का युद्ध-गान बन गया।

गीत की दृष्टि से चन्द्रगुप्त और स्कन्दगुप्त एक अमूल्य कोष हैं। लज्जा से भरे हुए यौवन का कितना सजीव चित्र चन्द्रगुप्त में मिलता है—

तुम कनक किरन के अन्तराल में
लुक छिप कर चलते हो क्यों,
नत मस्तक गर्व वहन करते,
यौवन के घन रस कन ढरते,
हे लाज भरे सौंदर्य!
बता दो मौन बने रहते हो क्यों,
अधरों के मधुर कगारों में,
कल कल की गुंजारों में,

मधु सरिता सी यह हँसी
तरल अपनी पीने रहते हो क्यों ?

उद्वेलित यौवन के आग्रहपूर्ण चित्र में "आज इस यौवन के माधवी कुंज में कोकिल बोल रहा" वाला गीत मन में गुंजार है। परन्तु यहाँ पर हम इन गीतों को केवल नाटकीय पार्श्वभूमि में ही देखना चाहते हैं, स्वतन्त्र गीत के रूप में नहीं। अस्तु।

भावना और चरित्र-चित्रण में विजया का "अगरु धूम की श्याम लहरियाँ" गीत भी सुन्दर बना है। यौवन विलास की आकांक्षा और उसके अपरिमित काल्पनिक सुख की ओर संकेत करती हुई विजया कहती है—

"प्रियतम, यह भरा हुआ यौवन और प्रेमी हृदय विलास के उपकरणों के साथ प्रस्तुत है। उन्मुक्त आकाश के नील नीरद मंडल में दो बिजलियों के समान क्रीड़ा करते-करते हम लोग तिरोहित हो जायँ और उस क्रीड़ा में तीव्र आलोक हो, जो हम लोगों के विलीन हो जाने पर भी जगत की आँखों को थोड़े काल के लिए बंद कर रक्खे। स्वर्ग की कल्पित अप्सराएँ और इस लोक के अनंत पुण्य के भागी जीव भी जिस सुख को देखकर आश्चर्य चकित हों, वही मादक सुख, घोर आनंद, विराट विनोद हम लोगों का आलिंगन करके धन्य हो जाय।"

यौवन के इस मादक सुख का चित्रण [illegible]

अनुनय उलझ रहा हो तीखे तिरस्कार से लांछित हो,
यह दुर्बलता दीनता रहे, उलझी फिर चाहे ठुकराओ,
निर्दयता के इन चरणों से, जिसमें तुम भी सुख पाओ।

नेपथ्य में गाये हुए गीतों का उपयोग कार्य की भूमिका बनाने में हुआ है।

अजातशत्रु के अन्तिम दृश्य में सायंकाल का दृश्य और ठंडी ठंडी हवा का चलना नेपथ्य में गाये हुए गीत,

चल वसन्त बाला अंचल से किस घातक सौरभ में मस्त,
आती मलयानिल की लहरें, जब दिनकर होता है अस्त।

द्वारा किया गया है। उसी गीत के द्वारा निर्मित पृष्ठ-भूमि पर बिम्बसार कहते हैं—"सन्ध्या का समीर ऐसा चल रहा है जैसे दिन भर का तपा हुआ उद्विग्न संसार एक शीतल निश्वास छोड़ कर अपना प्राण धारण कर रहा है · · ।"

रामा को आश्वासन देती हुई देवकी कहती है—

"न घबड़ा रामा! एक पिशाच नहीं नरक के असंख्य दुर्दान्त प्रेत और क्रूर पिशाचों का त्रास और उनकी ज्वाला दयामय की कृपा-दृष्टि के एक बिन्दु से शान्त होती है।" इसके बाद नेपथ्य में यह गीत गाया जाता है।

पालना बने प्रलय की लहरें ··

·· · ·· · ·· · ··

प्रभु का हो विश्वास सत्य तो
सुख का केतन फहरे।

गीत के पश्चात् की घटनाओं को इसी गीत ने सहारा मिला हुआ मालूम होता है।

'सब जीवन बीता जाता है धूप छाँह के खेल सदृश।' गीत भी देवसेना के कथन से समानता रखता हुआ जीवन की क्षण-भंगुरता का ही चित्रण करता है। चन्द्रगुप्त में "ऐसी कड़ी रूप की ज्वाला"

नेपथ्य से गाया हुआ गीत भी राक्षस के भावानुरूप वातावरण उपस्थित करने के लिए रखा गया है।

नेपथ्य में गाये हुए गीतों के अलावा रंगमंच के गीत भी वातावरण प्रस्तुत करने में सहायक हुए हैं। रात्रि का वातावरण सुवासिनी ने अपने "सखे, वह प्रेममयी रजनी" वाले गीत से उपस्थित किया है।

रस-प्रसार की दृष्टि से या दृश्य के अन्त को तीव्र बनाने के लिए जो गीत गाये हैं उनका नाटकीय महत्व अधिक है, उनके द्वारा दृश्य की घटनाओं का हृदय पर पड़ा हुआ प्रभाव तीव्रतर हो, चिरस्थायी हो जाता है। ऐसे गीतों में देवसेना का "आह वेदना मिली विदाई" गीत बहुत ही सुन्दर है। चन्द्रगुप्त नाटक में "ओ मेरे जीवन की स्मृति, ओ अन्तर के आतुर अनुराग!" मालविका के जीवन-बलिदान का महत्त्व बढ़ा देता है।

अजातशत्रु

दार्शनिक पृष्ठभूमि

अजातशत्रु नाटक प्रथम बार १९२२ में प्रकाशित हुआ; इसलिए बहुत सम्भव है कि प्रसाद जी ने नाटक का प्रारम्भ महायुद्ध के पश्चात् ही किया हो। १९१४ से १९१८ तक जो महायुद्ध यूरोप के लिए बवंडर होकर आया था, उसका प्रभाव भारतवर्ष पर भी पड़ा। १९०६ के बङ्गाल-विभाजन के बाद भारतवर्ष में स्वराज्य और स्वदेशी का आन्दोलन चल चुका था और देश में राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो गई थी। १९१३ के लखनऊ अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने भी पूर्ण स्वराज्य अपना ध्येय घोषित किया जिसके लिए इसी वर्ष के करांची अधिवेशन में कांग्रेस के सभापति ने मुस्लिम लीग को बधाई दी थी। महायुद्ध भारत की आन्तरिक व्यवस्था के लिए भी एक संघर्ष-काल था। आशा और निराशा के द्वन्द्व का प्रारम्भ था, परन्तु महायुद्ध के बाद ही इंगलैंड के प्रधान मन्त्री, एस्क्विथ [illegible] ने भारत के राज्यशासन को एक नवीन दृष्टि से

इसी करुणा द्वारा ही विश्वमैत्री की स्थापना संभव हो सकती है। करुणा, हमारे सेवा-प्रेम और कर्तव्य की भावना व्यक्त करती है गौतम के ये शब्द उस काल की अन्तर्राष्ट्रीय भावना के कितने सुन्दर चित्र हैं—

"विश्व के कल्याण में अग्रसर हो। असंख्य दुखी जीवों को हमारी सेवा की आवश्यकता है। इस दुःख समुद्र में कूद पड़ो। यदि एक भी रोते हुए हृदय को तुमने हँसा दिया, तो सहस्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर मे विकसित होंगे। फिर तुमको पर-दुःख-कातरता में ही आनन्द मिलेगा। विश्वमैत्री हो जायगी—विश्व भर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा। उठो, असंख्य आहें तुम्हारे उद्योग से अट्टहास मे परिणित हो सकती हैं।"

वासवी भी उस समय की अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम-भावना का काल्पनिक सुख देखती है—

"कुटुम्ब के प्राणियों मे स्नेह का प्रचार करके मानव इतना सुखी होता है, यह आज ही मालूम हुआ होगा। भगवान्! क्या कभी वह भी दिन आवेगा, जब विश्व भर मे एक कुटुम्ब स्थापित हो जावेगा और मानव मात्र स्नेह से अपनी गृहस्थी सम्हालेंगे!"

यह विश्वमैत्री मनुष्य को मनुष्य के रूप मे ही देखने से हो सकती है। अपने को बड़ा समझकर छोटों का निरादर करने से नहीं। शक्तिशाली द्वारा निर्बलों के शासन से नहीं। ये तो जंगली लोगों के क्रूर विचार हैं। सब जीवों को समदृष्टि से देखने से ही, सब मे एक सा स्नेह रखने से ही यह विश्वमैत्री स्थापित हो सकती है। अजातशत्रु इस उच्चादर्श से नीचे गिरा था, इसलिए उसने क्रूर कर्म किये थे—यह बवंडर पैदा कर दिया था। इसे वह स्वयं ही मानता है—

"नहीं पिता मुझे भ्रम हो गया था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था केवल जंगलीपन की स्वतंत्रता का अभिमान। अपने को विश्वभर से स्वतंत्र जीव समझने का झूठा आत्म-सम्मान।"

सा कौटुम्बिक सुख शान्ति चाहती है। अपने गुरुजनों की ओर कर्त्तव्य करते करते ही हमारा ध्यान समस्त मानव जाति की ओर जा सकता है। इस कौटुम्बिक शान्ति स्थापन करने में माता का ही नहीं, पूरी नारी जाति का मुख्य भाग है। क्योंकि नारी स्वभाव से ही प्रेम की प्रतिमा है, करुणा की देवी है। उसमें सहनशीलता है। जिसमें ये गुण नहीं उसका जीवन भी सुखी नहीं। वह [illegible] होकर सारे कुटुम्ब में भयानक [illegible] करती है। छलना इन गुणों से शून्य थी, इसीलिये उसने कुटुम्ब में—राज्य में—यह विद्रोह खड़ा किया था। मागन्धी भी इन गुणों से शून्य थी—

"[illegible] रूप के परिवर्तन की इच्छा मुझे इतनी विषमता में ले आई। अपनी परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख लिप्सा में ही पड़ी रही। उसी का यह परिणाम है। स्त्री सुलभ एक स्निग्धता, सरलता की मात्रा कम हो जाने से जीवन में कैसे बनावटी भाव आ गये।"

पुरुष [illegible] स्नेह की वर्षा करती है। लेकिन नारी अपने प्रभाव से—[illegible] से—पुरुषों को भी बदल सकती है। क्रूर पुरुष भी [illegible] शान्ति चाहते हैं।

"[illegible] — मनुष्य कठोर परिश्रम करके जीवन-संग्राम में प्रकृति पर [illegible] अधिकार करके भी एक शासन चाहता है, जो [illegible] है, उसका एक शीतल विश्राम है, और [illegible] करुणा की मूर्ति तथा सान्त्वना के अभय-वरद हस्त [illegible] की सारी वृत्तियों की कुंजी, विश्व-शासन की [illegible] प्रकृति स्वरूपा स्त्रियों के सदाचारपूर्ण स्नेह का शासन है। उसे छोड़कर असमर्थता, दुर्बलता प्रकट करके इस दौड़ धूप में क्यों पड़ी हो? देवि! तुम्हारे राज्य की सीमा विस्तृत है और पुरुष की संकीर्ण। कठोरता का उदाहरण है पुरुष और कोमलता का विश्लेषण है स्त्री जाति। पुरुष क्रूरता है तो स्त्री करुणा है जो अन्तर्जगत् का

उच्चतम विकास है, जिसके बल पर समस्त सदाचार ठहरे हुए हैं। इसीलिए प्रकृति ने उसे इतना सुन्दर और मनमोहना आवरण दिया है—रमणी का रूप।"

मल्लिका भी यही कहती है—

"स्त्रियों का कर्तव्य है कि पाशव वृत्तिवाले क्रूर कर्मा पुरुषों को कोमल और करुणाप्लुत करें, कठोर पौरुष के अनन्तर उन्हें जिस शिक्षा की आवश्यकता है—उस स्नेह, शीतलता, सहनशीलता और सदाचार का पाठ उन्हें स्त्रियों से ही सीखना होगा।"

इसी कारण ही सम्भव है प्रसाद जी ने विश्वमैत्री के संस्थापक गौतम का भी इतना अधिक प्रभाव नाटक पर नहीं दिखलाया जितना मल्लिका का। अजात, मागन्धी, विरुद्धक सभी मल्लिका से ही आदर्श ग्रहण करते हैं। गौतम से तो केवल मागन्धी को ही क्षमा मिलती है। यद्यपि इस दशा में भी मागन्धी की ही विजय है।

इस प्रकार प्रसाद जी की दृष्टि में विश्वमैत्री मानवीय प्रेम, करुणा और सेवा पर अवलम्बित है। जब तक मनुष्य में इन गुणों का [illegible] भावना न होगी, तब तक विश्वमैत्री असम्भव ही है। [illegible] संसार में युद्ध होते ही रहेंगे। अशान्ति का साम्राज्य रहेगा। मनुष्य प्रेम के द्वारा इस संसार को स्वर्ग बना सकता है। [illegible] गुण है लेकिन यह गुण कौटुम्बिक शिक्षा पर निर्भर है। [illegible] हृदय पर करुणा का साम्राज्य न होगा, [illegible] होगी।

कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि [illegible] अजातशत्रु शैशवावस्था [illegible] काल की। कामायनी में मानव [illegible] चेतना की साधना है [illegible] सहायक और प्रेरक है। बिना इनकी सहायता [illegible] नहीं पा सकता। स्वार्थ-निर्माण और [illegible] आनन्द [illegible]

पहुँचने की सीढ़ी मात्र है। इस उन्नति में श्रद्धा का अनिवार्य महत्त्व है। वही मानव की पथ-प्रदर्शिका है।

अजातशत्रु का कथानक करुणा की इसी नींव पर ही निर्मित हुआ है। बिना करुणा के संसार उद्भ्रान्त, जंगली और द्रोहपूर्ण रहा करता है। करुणा से ही संसार में सुख, मैत्री और शान्ति है। जिस मनुष्य में करुणा नहीं वह पशु है, क्योंकि मानवी सृष्टि करुणा के लिए है। अजातशत्रु के प्रथम अंक से ही हम करुणा के महत्त्व से भिज्ञ हो जाते हैं। करुणा और क्रूरता का संघर्ष ही नाटक का कथानक है। जहाँ क्रूरता का अन्त हो जाता है, वहीं नाटक की भी समाप्ति हो जाती है। करुणाहीन छलना और अजात, वासवी और पद्मा के विरुद्ध खड़े होते हैं। भगवान् गौतम वा वासवी के उपदेशों का उन पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। द्वेष, ईर्ष्या और अभिमान में उन्मत्त होकर देवदत्त गौतम के विरुद्ध षड्यन्त्र रचता है और छलना वा अजात महाराज बिम्बसार वा देवी वासवी पर नियन्त्रण रखते हैं। उधर कौशाम्बी में "अपनी परिस्थिति को संयत न रखकर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग" लेकर मागन्धी ने उदयन के हृदय में, करुणा की मूर्ति पद्मा के विरुद्ध संदेह उत्पन्न कर दिया। कौशल में भी शील और सदाचार से शून्य विरुद्धक अपने पिता प्रसेन के विरुद्ध खड़ा होता है। और प्रसेन स्वयं अपने अभिमान में चूर हो सन्देह के गर्त में पड़कर अपने सेनापति बन्धुल का वध करने के लिए षड्यन्त्र रचता है। परन्तु मल्लिका की सहनशीलता, उसकी करुणा पहले प्रसेन को सत्पथ पर लाती है, इसके पश्चात् सभी करुणा का पाठ सीखकर अपनी भूल को स्वीकार करते हैं और नाटक की समाप्ति सुख और शान्ति में होती है। इस प्रकार नाटक का कथानक बहुत पहले ही गौतम द्वारा व्यक्त कर दिया गया है—

"निष्ठुर आदि-सृष्टि पशुओं की विजित हुई इस करुणा से,
मानव का महत्त्व जगती पर फैला अरुणा करुणा से।"

प्रसाद जी ने करुणा शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया है। वह केवल हमारी दया का ही द्योतक नहीं है। क्षमा, सहनशीलता, प्रेम, अनुराग, भक्ति, सत्कर्म, कर्तव्य-ज्ञान आदि सभी गुण इस करुणा द्वारा व्यक्त किये गये हैं। परन्तु ये सभी गुण प्रेम जनित बलिदान द्वारा व्यक्त हो जाते हैं। अजातशत्रु के हृदय में सर्वप्रथम मल्लिका की सहनशीलता, उसका क्षमा आदर्श देखकर ही परिवर्तन हो जाता है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि यह परिवर्तन अल्पकालीन ही रहता है। छलना की मन्त्रणा उसे फिर हिंस्र कर्मों की ओर ले जाती है। परन्तु वाजिरा का प्रेम उसके दर्प को पूर्ण रूप से नष्ट कर देता है। प्रेम भी तो करुणा का एक रूप ही है। अजात के लिए वाजिरा करुणा की मूर्ति ही है। "भगवान् ने करुणा की मूर्ति मेरे लिये भेजी है।" वाजिरा भी केवल "तुम हमें करुण दृष्टि से देखो और मैं कृतज्ञता का फूल तुम्हारे चरणों पर चढ़ाकर चली जाया करूँगी" यही चाहती है। अजात कहता है 'सुनता था कि प्रेम द्रोह को पराजित करता है, आज विश्वास भी हो गया" यह करुणा, यह प्रेम, दूसरे के लिए अपना बलिदान करने की क्षमता देता है। वाजिरा द्वारा मुक्त किये जाने पर भी अजात बन्दीगृह नहीं छोड़ना चाहता। 'यह नहीं हो सकता। इस उपकार के प्रतिफल में तुम्हें अपने पिता से तिरस्कार और भर्त्सना ही मिलेगी। शुभे, अब यह तुम्हारा चिरबन्दी मुक्त होने की चेष्टा भी न करेगा।' प्रेमादर होने पर ही प्रथम बार अजात ने [illegible] माँ को समझा। "कौन? विमाता? नहीं तुम मेरी माँ हो। माँ, इतनी शीतल गोद तो मेरी माँ की भी नहीं है। आज मैंने जननी की [illegible] अनुभव किया है।' अजात के हृदय में प्रेम ने जो [illegible] दो दिया था, वह पुत्र स्नेह के उदय से [illegible] उठा। [illegible] प्रेम ने विश्वबन्धुत्व और करुणा के लिए स्थान [illegible]। [illegible] को अपने प्रेम का [illegible] वह अपनी भूल स्वीकार करता [illegible] नहीं पिता! शुभ्र प्रेम [illegible]

था। मुझे अच्छी शिक्षा नहीं मिली थी। मिला था केवल जङ्गलीपन की स्वतन्त्रता का अभिमान—अपने को विश्वभर से स्वतन्त्र जीव समझने का झूठा अभिमान।"

पुत्र वियोग में कातर हो छलना भी प्रथम बार करुणा का अनुभव करती है। अजात के बन्दी होने पर उसके हृदय पर जो चोट पहुँची उसी ने उसके हृदय में करुणा का जन्म हुआ।

"वासवी बहिन! (रोने लगती है) मेरा कुणीक मुझे दे दो। मैं भीख मांगती हूँ। मैं नहीं जानती थी कि निसर्ग से इतनी करुणा और इतना स्नेह, सन्तान के लिए इस हृदय में संचित था। यदि जानती होती तो इस निष्ठुरता का स्वांग न करती" इसी करुणा ने छलना में नारी सुलभ सरलता और शान्ति उत्पन्न कर दी।

इस तरह समस्त गुणों की जननी एक करुणा है, जिसका जन्म कुटुम्ब के शान्त वातावरण में ही होता है। नारी जाति करुणा की मूर्ति है, दूसरों के हृदय में करुणा उत्पन्न कराने का एक मात्र साधन। सुखी कुटुम्ब में ही करुणा विद्यमान रहती है। सचमुच वे घर स्पृहणीय हैं जहाँ—

बच्चे बच्चों से खेलें, हो स्नेह बढ़ा उनके मन में।
कुल लक्ष्मी हों मुदित, भरा हो मंगल उनके जीवन में॥
बन्धुवर्ग हों सम्मानित, हों सेवक सुखी, प्रणत अनुचर।
शान्तिपूर्ण हो स्वामी का मन, तो स्पृहणीय न हों क्यों घर॥
ऐसा कुटुम्ब ही विश्वमैत्री की स्थापना कर सकता है।

कथा संगठन

इस नाटक ३ अंकों में विभाजित है। पहले अंक में ही करुणा [illegible] संघर्ष मगध, कौशाम्बी और कोशल में प्रारम्भ हो जाता है। दूसरे अंक में [illegible] की विजय होती है, परन्तु तीसरे अंक के प्रारंभ होते ही करुणा की विजय-पताका फहराने लगती है। संस्कृत

के नाट्य शास्त्रों का सिद्धान्त यद्यपि प्रसाद जी ने नाटक को ५ अंकों में विभक्त करने में नहीं अपनाया है तथापि संस्कृत की पाँच संधियाँ नाटक में भली भाँति देखी जा सकती हैं।

अजातशत्रु का कथानक गौतमबुद्ध के समकालीन अजातशत्रु की जीवन की घटनाओं से लिया गया है। मगध, कोशल और कौशाम्बी की घटनाओं का समावेश भी नाटक में है, क्योंकि इन राज्यों की घटनाएँ एक ओर तो अजातशत्रु के जीवन से संबंध रखती हैं, दूसरे ऐतिहासिक दृष्टि से भी पारस्परिक संबंध होने के कारण इन राज्यों की घटनाओं का चित्रण आवश्यक था। इस प्रकार नाटक में तीन राज्यों की घटनाएँ दिखाई गई हैं। प्रत्येक राज्य में एक ओर तो आन्तरिक संघर्ष चला करता है—दूसरी ओर बाह्य। मगध में छलना और अजात, वासवी और बिम्बसार के विरुद्ध खड़े होते हैं। गौतम के कहने से वा गृह-विवाद मिटाने के लिए बिम्बसार अजात को राज्य दे देते हैं। परन्तु भिक्षुओं का बिना दान लिये लौट जाना बिम्बसार को बुरा मालूम होता है। इस कारण महादेवी वासवी दहेज में मिले हुए काशी के कर को अपने काम में लाना चाहती हैं। इस कार्य के लिए उन्हें अपने भाई कोशल नरेश प्रसेनजित की सहायता लेनी पड़ती है। यहीं से बाह्य संघर्ष भी प्रारम्भ होता है। उधर कोशल और कौशाम्बी में भी आन्तरिक संघर्ष चल रहा है। प्रसेन के विरुद्ध [illegible] खड़ा होता है और पद्मा के विरुद्ध मागन्धी। इस [illegible] और [illegible] आन्तरिक संघर्ष के साथ ही गौतम और देवदत्त की भी [illegible] प्रतिद्वन्द्विता चल रही है। इस कारण अजातशत्रु नाटक [illegible] हो गया है। [illegible] कथा [illegible] है, [illegible] दृश्यों [illegible] की [illegible] गई है। [illegible] कथानक [illegible] है। [illegible] का, [illegible] और कौशाम्बी की घटना [illegible] है। कोशल की घटना [illegible]

प्रवाह मे मिल जाती है—परन्तु यथार्थ मे कौशल की घटना का मुख्य कथानक के विकास मे कोई महत्त्व नहीं।

नाटककार ने ऐतिहासिक सत्यता के कारण ही इन तीनों राज्यों की घटनाओं को कथानक मे परिणत किया है। परन्तु उसने कार्य-संकलन की ओर ध्यान नहीं दिया। प्रासंगिक घटनाएँ दो या तीन हैं जिनसे प्रधान कथानक पर बुरा प्रभाव पड़ता है और कथानक का स्वाभाविक प्रवाह रुक जाता है। कथा-विकाश के लिए कम स्थान होने से सहसा घटनाओं और चरित्रों मे एकाएक परिवर्तन बताया गया है। क्रूर अजातशत्रु मल्लिका के कुछ क्षणों के उपदेश से ही सुधर जाता है। घटना-विकास के लिए और चरित्र चित्रण के लिए अच्छा होता यदि नाटककार मगध को ही घटना का केन्द्र बनाता।

चरित्र-चित्रण

कथानक बड़े हो जाने के कारण चरित्रो की संख्या भी बढ़ गई है। मागन्धी तो छोड़ कौशाम्बी के किसी पात्र का मुख्य कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं। उदयन, पद्मा और वासवदत्ता घटना-विकास की दृष्टि से व्यर्थ ही हैं। इन्हे निकाल देने से भी नाटक मे कोई हानि न होगी। उदयन का मुख्य कथानक से कोई भी सम्बन्ध नहीं। पद्मा अवश्य ही नाटक मे महत्त्व रखती है, परन्तु उसके न रहने पर भी नाटक पर कोई विशेष हानि न पहुँचती। क्योंकि पद्मा का कार्य और चरित्र

विकास आवश्यक है। क्योंकि नाटक में सदैव ही दोनों द्वन्द्व चला करते हैं, आन्तरिक और बहिर। और आन्तरिक द्वन्द्व में भी विजय की उतनी ही आवश्यकता है जितनी बहिर की। कथानक की झंझटों में और पात्रों की संख्या में प्रसाद जी अन्तर्द्वन्द्व को भूल जाते हैं। इसलिए चरित्रों का जो कुछ विकास हुआ है वह बाह्य द्वन्द्व द्वारा ही।

वस्तु की जटिलता के कारण नाटक के कई पात्रों ने प्रधानता ग्रहण कर ली है। विरुद्धक, अजातशत्रु, गौतम और मल्लिका के चरित्र पूर्ण रूप से विकसित हैं। अतएव पहिला प्रश्न जो हमारे सामने आता है वह है नाटक के नायकत्व का। फलागम की दृष्टि से जैसा हम कह आये हैं अजातशत्रु ही फल का स्वामी होता है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके पूर्व मल्लिका और विरुद्धक को फल स्वाम्य का अधिकार मिल जाता है, परन्तु नाटक की समाप्ति अजात के हृदय में करुणा के उदय होने पर ही होती है। बीजारोपण और फलागम की ओर ले जानेवाली शक्तियों में गौतम और मल्लिका का श्रेय है। क्योंकि इन्हीं के आचरण और परिश्रम से अजात या अन्य पात्रों को सद्गुण मिलती है। गौतम और मल्लिका में, जैसा हम देख आये हैं, नाटककार ने मल्लिका को अधिक श्रेय दिया है। नायकत्व के नाते गौतम का यह श्रेय भले हो कम हो परन्तु भिन्न-भिन्न शाखाओं की घटनाओं का [illegible] इन्हीं से है। अतएव इन तीन चरित्रों में नाटक का नायक कौन है? मल्लिका का प्रश्न यह कह कर टाला जा सकता है कि [illegible] [illegible] के उत्तर भाग में है, पूर्व भाग में उसके दर्शन भी नहीं [illegible]। गौतम और अजातशत्रु के विषय में प्रश्न गम्भीर अवश्य [illegible] नहीं। [illegible] गौतम को ही नेता मानते [illegible] "समस्त नाटक में जिस विचारधारा का प्रसार है जो नाटक [illegible] को नियंत्रित करती है, गौतम उसका प्रतिरूप है। [illegible] की अन्त में विजय होती है सब [illegible] उन्हें प्रसार [illegible] है। नाटक का अन्तिम दृश्य भी गौतम के बिना समाप्त नहीं होता।

गौतम अभय हाथ उठाते हैं तभी यवनिका पतन होता है। हम तो यही समझते हैं कि एक रूप से नाटक की आत्मा होने के कारण और अन्तिम दृश्य में केवल अभय हाथ उठाने के लिए प्रवेश करने के कारण गौतम ही अजातशत्रु का नायक है अजातशत्रु नहीं। अजातशत्रु का फल-स्वाम्य तो दूसरे पात्रों के लिए भी साधारण है, परन्तु गौतम की जैसी विजय होती है वैसी और किसी की नहीं।"

घटना-सगठन की विवेचना करते हुए हम बता आये हैं कि अजातशत्रु का कथानक करुणा और अकरुणा के सघर्ष पर ही निर्भर है। गौतम में यह सघर्ष नहीं मिलता। अजात ही इस द्वद्व का पात्र है, इस कारण नायक वही है गौतम नहीं।

अजातशत्रु

अजातशत्रु के चरित्र में हमे अन्तर्द्वद्व नहीं मिलता। हृदय में रहने वाला कोमल और पाशविक वृत्तियो का सघर्ष नाटककार ने इसके चरित्र में नहीं रखा और इस कारण चरित्र उतना जटिल नहीं है, जितना स्कन्दगुप्त का या चाणक्य का। प्रारभ में अजात को हम क्रूर और उद्दण्ड राजकुमार के रूप में देखते हैं। धीरे-धीरे पद्मावती और अन्य महान् चरित्रो के प्रभाव से उसके चरित्र में परिवर्तन होता है [illegible]। और राजकुमार का क्रूर हृदय कोमल बन जाता है।

एक साधारण-सी बात है।

"नहीं माँ, मैं तुम्हारे यहाँ न आऊँगा जब तक पद्मा घर न जायगी।"

"यह पद्मा मुझे बार बार अप्रस्तुत किया चाहती है और जिस बात को मैं कहता हूँ उसे ही रोक देती है।"

इसमें सन्देह नहीं कि क्रूरता का यह पाठ उसको माँ छलना का ही पढ़ाया हुआ है। बच्चे के हृदय में उसी ने यह "कंटीली झाड़ी" लगा दी है। छलना का भी इसमें दोष नहीं। उसका लिच्छवी रक्त क्रूरता में ही उत्तम राज्यशासक देखता है। उसके लिए उद्दण्डता ही पुरुषार्थ की द्योतक है।

"जो राजा होगा, जिसे शासन करना होगा उसे भिखमंगों का पाठ नहीं पढ़ाया जाता। राजा का परमधर्म न्याय है, वह दण्ड के आधार पर है। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि वह भी हिंसामूलक है।"

अजात का यह कटु और दुर्विनीत व्यवहार अपने पिता के प्रति भी है। गौतम के पूछने पर कि "क्यों कुमार, तुम राज्य का कार्य मंत्रि परिषद् की सहायता से चला सकोगे?" अजात यह शील और विनय शून्य उत्तर ही देता है "क्यों नहीं, पिताजी यदि आज्ञा दें।" शासन पा चुकने पर विरुद्धक का पक्ष लेते हुए भी वह कहता है—

"हम नहीं समझते कि इन बुड्ढों को क्या पड़ी है और उन्हें सिंहासन का कितना लोभ है। क्या यह पुरानी और निर्गन्ध में फँसी हुई, [illegible] के कीचड़ में निमज्जित, राजतन्त्र की पद्धति, नवीन उत्पादन [illegible] थी? तिल भर भी जो अपने विचारों से हटना नहीं चाहता [illegible]

"हम लोग उस अत्याचारी राजा को कर न देंगे, जो अधर्म्म के बल से पिता के जीते भी सिंहासन छीनकर बैठ गया है। और जो पीड़ित प्रजा की रक्षा भी नहीं कर सकता। उनके दुखों को नहीं सुनता।"

शैलेन्द्र ने प्रजा को बचाना तो दूर ही रहा, अजात प्रजा के साथ भी क्रूरता का व्यवहार और कठोर शासन करने की सोचने लगता है।

"'राजकर मैं न दूँगा' यह बात जिस जिह्वा से निकली, बात के साथ वह भी क्यों न निकाल ली गई? काशी का दण्डनायक कौन मूर्ख है? तुमने उसी समय उसे बन्दी क्यों नहीं बनाया?"

निरंकुश और आतंकवादी शासन क्रूर मनुष्य द्वारा ही हो सकता है। नवीन रक्त राजश्री को सदैव तलवार के दर्पण मे देखना चाहता है।

मल्लिका के संपर्क मे आने पर उसे प्रथम बार अलौकिक शांति का अनुभव होता है। "देवी, आप कौन है? हृदय नम्र होकर आप ही आप प्रणाम करने को झुक रहा है। ऐसी पिघला देने वाली वाणी मैंने कभी नहीं सुनी।" मल्लिका का क्षमादान, अपने पति के हत्यारे के साथ दया और ममता का व्यवहार, अजात को मन्त्रमुग्ध-सा कर देता है। वह मल्लिका को एक देवि रूप मे देखने लगता है।

"तब भी आपने उस अधम जीवन की रक्षा की। ऐसी क्षमा! आश्चर्य! यह देव कर्तव्य ..."

मल्लिका द्वारा अजात प्रथम बार ही अनुपम शांति का अनुभव करता है। प्रथम बार ही उसे मनुष्य-कर्तव्य का पाठ मिलता है और [illegible] करुणा मे बदल जाती है—युद्ध मे भयानकता मालूम होने लगती है।

"क्या रक्षा हो! युद्ध मे बड़ी भयानकता होती है। कितनी स्त्रियाँ अनाथ हो जाती हैं। सैनिक जीवन का महत्त्वमय चित्र न जाने किस षड्यन्त्रकारी मस्तिष्क की भयानक कल्पना है।"

इतना ही नहीं, उसे अपने पिता के प्रति कर्तव्य का भी ज्ञान होने

गुण सम्पन्न हैं। और इस रूप में उनका चरित्र बहुत ही सरल है। नाटक की सारी घटनाओं के वे ही केन्द्र हैं—उनका प्रभाव तीनों राज्य-मंडलों में देखा जाता है। उनका चरित्र उनके सिद्धान्तों का व्यक्तीकरण है। वे क्षमा के अनुगामी हैं—करुणा के पुजारी हैं—प्रेम और दया को वे संसार-विजय में महान् शक्ति समझते हैं। "विश्व भर में यदि कुछ कर सकती है तो वह करुणा है, जो प्राणिमात्र में सम दृष्टि रखती है।" मधुर व्यवहार से वन्य पशु भी वश में हो जाते हैं फिर मनुष्य तो मनुष्य ही है। "शीतल वाणी, मधुर व्यवहार से क्या वन्य पशु भी वश में नहीं हो जाते?" गौतम के विचारों और सिद्धान्तों का मूल मन्त्र करुणा है जो विश्वमैत्री की प्रथम सीढ़ी है। सत्याग्रह में सत्य की सदैव ही विजय होती है, इसी कारण देवदत्त के कपटाचरण की परवाह न करते हुए वे अपना कर्तव्य करते रहते हैं। "क्या

अंक के छठवें दृश्य में वे प्रकृति में मायावी चतुर देखते हैं। यह दार्शनिकता वास्तव में उनकी हृदय-जनित नहीं है। वह तो केवल गौतम के प्रभाव का परिणाम-स्वरूप ही मालूम होती है। क्योंकि जीवन की क्षणभंगुरता जानते हुए भी बिम्बसार को अपने राज्य से मोह है। गौतम की आज्ञा पालन करने के लिए ही उन्होंने शायद राज्य छोड़ा था—क्योंकि बाद में भी राज्य की लालसा उनकी बातों से टपका करती है। दूसरे दृश्य में भी गौतम के प्रस्ताव पर कि राज्य अजातशत्रु को दे दिया जाय—वे कुछ आनाकानी करते हैं जो वास्तव में अजात की योग्यता और अयोग्यता से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना उनके अधिकार-सुख से। "योग्यता होनी चाहिए महाराज! यह गुरुतर कार्य है। नवीन रक्त राजश्री को सदैव तलवार के दर्पण में देखना चाहता है।" गौतम इस उत्तर का रहस्य समझते हैं इसीलिए वे हँसकर कहते हैं।

"यह बहाना तुम्हारा राज्याधिकार की आकांक्षा प्रकट कर रहा है। राजन् समझ लो। गृह-विवाद और आन्तरिक झगड़ों से विश्राम लो।"

प्रथम अंक के तीसरे दृश्य में वे आने वाली गृह-[illegible] हैं और किसी तरह अपने मन को समझाने का प्रयत्न [illegible] है। '[illegible] की व्यास लिप्सा या विराग होने के लिए यह पहला प्यार [illegible]

"मनुष्य-हृदय भी एक रहस्य है, एक पहेली है। जिस पर क्रोध से भैरवहुंकार करता है, उसी पर स्नेह का अभिषेक करने के लिए प्रस्तुत रहता है। उन्माद! और क्या? मनुष्य क्या इस पागल विश्व के शासन से अलग होकर कभी निश्चेष्टता नहीं ग्रहण कर सकता? हाय रे मानव! क्यों इतनी दुरभिलाषायें बिजली की तरह तू अपने हृदय मे आलोकित करता है "

महाराज बिम्बसार का प्रेम रानी वासवी पर पहले ही से अधिक है और वे अधिकतर उन्हीं के कहने पर कार्य भी करते हैं। राज्य-त्याग की इच्छा उन्होंने वासवी की इच्छा के बाद ही प्रकट की। वास्तव में रानी वासवी महाराज मे अधिक चतुर हैं। दूसरे अंक के छठे दृश्य में वासवी की बुद्धिमत्ता महाराज से अधिक मालूम होती है। इस कारण यह आश्चर्यजनक नहीं कि महाराज भी वासवी की इच्छा पर ही कार्य करें। "बिम्बसार के चरित्र का प्रधान लक्षण उसकी दुर्बल प्रकृति है। जिसके कारण वह शान्ति की इच्छा करता हुआ भी शान्ति नहीं पा सकता है बिम्बसार के चरित्र का परमश्रेष्ठ गौरव इस बात में है कि उसकी दुर्बलताओं का व्याकरण करके वैराग्य वृत्ति के साथ उनका कुशल सामञ्जस्य किया गया है। जहाँ उसके चरित्र के विशिष्ट गुणों की स्वरता दिखाई गई है, वहाँ लेखक की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का अच्छा प्रकाश होता है। ऐसे स्थलों में एक स्थल बड़ा मनोहर है जिसमें चित्रण की कुशलता द्वारा भावुक कवित्व की सुन्दर प्रतिष्ठा हुई है। अजातशत्रु प्रवेश करते ही अपने पिता के पैरों पर गिर पड़ता है। तब पिता कहता है—'नहीं-नहीं, मगधराज, अजातशत्रु को सिंहासन की मर्यादा नहीं भंग करना चाहिए। मेरे दुर्बल चरण—' हाय रोक दो! स्नेह, अभिमान, वात्सल्य, व्याकुलता आदि का एक साथ [illegible] ऐसा स्पर्श [illegible] उज्ज्वल हो उठा है।"[1]

[1] [illegible]—'प्रसाद की नाट्यकला' पृ० १८६-९०

६

से आक्रमण होने प्रारम्भ हो गये थे और चन्द्रगुप्त द्वारा स्थापित गुप्त साम्राज्य अपने विनाश की ओर अग्रसर हो रहा था। भारत के उत्कर्ष का [illegible] ग्रहण था। इस समय यदि आशा थी तो केवल स्कन्द से —वही गुप्त कुल का जगमगाता नक्षत्र था। सारा भारत केवल उसी का आश्रय देख रहा था। स्कन्दगुप्त नाटक ऐसे ही पतित होते हुए भारत का चित्र है जिसमे स्कन्द अपनी प्रतिभा से उसे उन्नति के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करता है।

इस कारण स्कन्दगुप्त नाटक मे ऐतिहासिक वातावरण के साथ ही साथ स्कन्द की महानता प्रदर्शित करने के लिए समकालीन भारत का जीता जागता चित्र नाटककार को चित्रित करना अत्यावश्यक था। इतिहास और साहित्य दोनों के नाते भारत के इस परिवर्तनकाल को जितने भी गहरे रगो से भरा जा सके जितना ही स्पष्ट रूप वह उसे दे सके उतनी ही नाटककार की कला और कल्पना सफल समझी जावेगी। इसीलिए नाटककार ने भारत की उस दयनीय दशा के चित्रण का पूर्ण ध्यान रखा है। इसी के ऊपर तो साहित्य के नाते स्कन्द के नायकत्व का और इतिहास के नाते सत्यता का बोध हो सकता है।

स्कन्दगुप्त मे पाच अक है। ऐसा मालूम होता है कि प्रत्येक अक [illegible] के आधार पर ही निर्मित किया गया है। नाटक का उद्देश्य स्कन्द को अपनी प्रतिकूल प्रत्येक बाधाओं पर विजयी [illegible] बनाना है और इसके लिए उसे हूणो का दमन करना [illegible] करना और विलासिता मे फसी हुई आर्य [illegible] पथ की ओर [illegible] करना आवश्यक है। प्रथम [illegible] निरापद हो जाता है और स्कन्द मालव पर आक्रमण [illegible] हूणो को पराजित करता है। हूणो की यह पराजय [illegible] इसके अनन्तर दूसरे अक मे स्कन्द [illegible] प्रथम प्रश्न को [illegible] करता [illegible] की ओर [illegible] रहा है और यहाँ हमें [illegible]

नहीं है। उसमें एक ही मुख्य कथा है। प्रासंगिक घटनाओं के फेर में पड़कर नाटक की कथावस्तु को जटिल नहीं बनाया गया है। यद्यपि नाटककार यहाँ भी मगध और मालव के राज्यों से सम्बन्ध रख रहा है—परन्तु मालव की सारी घटनाएँ आधिकारिक वस्तु की ही अंग हैं, उनका सहयोग नाटक में एकता और पूर्णता स्थापित करने के लिए है। कथानक को विशृंखल बनाने के लिए नहीं। फलागम को सामने रखते हुए नाटककार ने प्रथम अंक के सात दृश्यों में स्कन्द की आपत्तियों और बाधाओं का ही उल्लेख किया है। पुष्यमित्रों के युद्ध, शक, हूण और मगोलों द्वारा पश्चिमी भारत पर आक्रमण, सौराष्ट्र को पदाक्रान्त कर मालव पर उनके अभियान की सूचना, मगध सम्राट को अपने उत्तरदायित्व की ओर उन्मुख करती है। लेकिन कुमारगुप्त की विलास-मात्रा की सूचना भी हमें पर्णदत्त द्वारा और साम्राज्य के अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम की सूचना चक्रपालित द्वारा मिलती है। आशा का तारा केवल स्कन्द ही दिखता है जिसकी ओर हमारी दृष्टि आप से आप झुकने लगती है। स्कन्द जिस उत्साह से मालव-दूत को उत्तर देता है वह आप से आप हमारा ध्यान नायक की ओर ले जाता है।

मशः विकास होने के लक्षण दिखाई देते हैं। इस तरह द्वितीय अंक के कुछ पूर्व ही प्रतिमुख सन्धि की समाप्ति हो जाती है। तृतीय अंक में परिस्थितियों का अधिक विकास हो रहा है।

"भीमसेन—आर्य साम्राज्य का उद्धार हुआ है। बहिन! सिन्धु के प्रदेश में म्लेच्छराज ध्वंस हो गया है। प्रवीर सम्राट् स्कन्दगुप्त ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की है। गौ, ब्राह्मण और देवताओं की ओर कोई भी आततायी आँख उठाकर नहीं देखता। लौहित्य से सिन्धु तक, हिमालय की कंदराओं में भी स्वच्छन्दता-पूर्वक सामगान होने लगा।" आर्य्यावर्त्त में हूणों के आतंक को पूर्ण रूप से नष्ट करने के लिए, उन्हें एक बार ही भारतीय सीमा से दूर करने के लिए स्कन्द सभी सामन्तों को आमन्त्रित कर अपने उद्योग में लगा हुआ है। प्रतिमुख सन्धि की परिस्थितियाँ तीसरे अंक की गर्भ-सन्धि में और भी अधिक विकसित हो गई हैं। परन्तु चौथे अंक में ही अवमर्श ने भयानक बाधाएँ उपस्थित कर दीं। भटार्क का षडयन्त्र सफल हो गया और वही स्कन्दगुप्त जो 'रमणियों का रक्षक, बालकों का विश्वास, वृद्धों का आश्रय और आर्य्यावर्त्त की छत्रच्छाया" था, वही आज "निष्प्रभ, निस्तेज उसी के मलिन चित्र सा" इधर-उधर मारा-मारा फिरता है। पर्णदत्त जिसके लोहे से आग बरसती थी अब सूखी लकड़ियाँ बटोरकर आग सुलगाता है। सूखी रोटियाँ और कुत्सित अन्न को अक्षय निधि के समान बटोरकर रखता है। सारा अंक निराशापूर्ण है। स्कन्द के सम्राट् होने की आशा स्वप्नवत् मालूम पड़ती है। पाँचवें अंक में भारत के भाग्य का उदय होता है। स्कन्द के बाहुबल और भटार्क या पर्ण के प्रयत्नों से हूणों की पराजय होती है। भारत-लक्ष्मी फिर हँसती है। सम्राट स्कन्दगुप्त साम्राज्य पाकर उसे अपने भाई पुरगुप्त के लिए छोड़ देते हैं। अन्तः विद्रोह और हूणों के आतंक को नष्ट कर स्कन्द समस्त भारत के उन्नत ललाट पर प्रातः भानु की भाँति प्रकाशमान् होने लगता है।

स्कन्दगुप्त का कथानक अजातशत्रु के कथानक की भाँति उलझा

नहीं है। उसमें एक ही मुख्य कथा है। प्रासंगिक घटनाओं के फेर में पड़कर नाटक की कथावस्तु को जटिल नहीं बनाया गया है। यद्यपि नाटककार यहाँ भी मगध और मालव के राज्यों से सम्बन्ध रख रहा है—परन्तु मालव की सारी घटनाएँ आधिकारिक वस्तु की ही अंग हैं, उनका सहयोग नाटक में एकता और पूर्णता स्थापित करने के लिए है। कथानक को विशृंखल बनाने के लिए नहीं। फलागम को सामने रखते हुए नाटककार ने प्रथम अंक के सात दृश्यों में स्कन्द की आपत्तियों और बाधाओं का ही उल्लेख किया है। पुष्यमित्रों के युद्ध, शक, हूण और मंगोलों द्वारा पश्चिमी भारत पर आक्रमण, सौराष्ट्र को पदाक्रान्त कर मालव पर उनके अभियान की सूचना, मगध सम्राट को अपने उत्तरदायित्व की ओर उन्मुख करती है। लेकिन कुमारगुप्त की विलास-मात्रा की सूचना भी हमें पर्णदत्त द्वारा और साम्राज्य के अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम की सूचना चक्रपालित द्वारा मिलती है। आशा का तारा केवल स्कन्द ही दिखता है जिसकी ओर हमारी दृष्टि आप से आप झुकने लगती है। स्कन्द जिस उत्साह से मालव-दूत को उत्तर देता है वह आप से आप हमारा ध्यान नायक की ओर ले जाता है।

घटनाओं की अधिकता का दर्शकों की स्मृति पर अधिक भार न पड़े इसलिए तृतीय दृश्य प्रथम दो दृश्यों की संक्षेप में पुनरावृत्ति-सा करता है। उधर अन्तःपुर में अनन्तदेवी महादेवी बनने की लालसा में, भटार्क अपने व्यर्थात्माभिमान में और प्रपंचबुद्धि सद्धर्म के उद्धार के लिए कुमारगुप्त की हत्या कर पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठालने का भयानक षडयंत्र रच रहे हैं। मगध में स्कन्दगुप्त की अनुपस्थिति षड्यन्त्रकारियों के लिए अमूल्य अवसर प्रदान कर देती है और अन्तःपुर का अन्तर्विद्रोह छठे दृश्य तक पूर्ण सफल हो जाता है। छठे और सातवें दृश्यों में स्कन्द हूणों पर विजय पाते हैं। दूसरा अंक देवसेना और विजया की प्रणय-लीला का है। स्कन्द मालव का सम्राट बनता है और पुरगुप्त के प्रयत्नों पर पानी फेर देता है। कथानक का प्रवाह कहीं भी मंद नहीं पड़ता। भिन्न-भिन्न स्रोत आकर उसकी धारा विस्तृत और गहन करते जाते हैं, उसके मार्ग में चट्टानें लाकर बाधायें उपस्थित नहीं करते।

तीसरा अंक दूसरे अंक की घटनाओं को और भी आगे बढ़ाता है। विजया और देवसेना के आन्तरिक द्वेष का परिणाम प्रपंचबुद्धि के निहत होने में होता है, जिसके फलस्वरूप "गुप्त परिषद्" के प्रभावशाली व्यक्ति की मृत्यु से षड्यन्त्रकारियों की शक्ति को काफी क्षति पहुँचती है। फिर भी भटार्क का षड्यंत्र सफल हो जाता है और आर्य्य साम्राज्य का विध्वंस चौथे अंक का कलेवर बनता है। विपत्तियां ही मनुष्य को सत्पथ पर प्रेरित करती हैं, आँखों का पर्दा वास्तविकता देखने पर ही हट जाता है। भटार्क में सद्बुद्धि जागती है, वह स्कन्द का [illegible] हो जाता है। कनिष्क के स्तूप के पास आर्य्य साम्राज्य के सभी [illegible] पर्णदत्त पहले से ही इकट्ठा कर लेता है। एक बार स्कन्द फिर अपनी शक्ति संकलित करता है और इस बार [illegible] हो जाते हैं।

नाटक का एक भी दृश्य ऐसा नहीं जो अपने [illegible]

से रखा गया है। प्रत्येक दृश्य मूल कथानक से इस प्रकार सम्बद्ध है कि एक दृश्य की न्यूनता सारी शृंखला को विच्छिन्न कर देगा। प्रत्येक का अपना-अपना स्थान है और प्रत्येक अपने मूल कथानक के विकास में पूर्ण सहयोग देता है। कुछ लोगों ने स्कन्दगुप्त के बौद्ध और ब्राह्मण वाले दृश्य को अनावश्यक बतलाया है। लेकिन जैसा हम लिख आये हैं कि स्कन्द के उत्कर्ष के लिए भारत की दयनीय दशा का चित्रण नितान्त आवश्यक है। यह दृश्य केवल नाटककार की इतिहासनिष्ठा का द्योतक नहीं और यद्यपि गुप्तकालीन परिस्थितियों के चित्रण करने में उसका सबसे प्रमुख स्थान है, लेकिन साहित्य और नाटक की दृष्टि से भी उसका कम महत्त्व नहीं। दण्डनायक का यह कथन—

"नागरिकगण! यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है और तुम लोग क्षुद्र बातों के लिए परस्पर झगड़ते हो।"

वास्तव में भारत की शोचनीय दशा का चित्रण है, जिसमें स्कन्द का कार्य और भी कठिन हो जाता है। इन्हीं आन्तरिक झगड़ों के कारण ही हूण आर्यावर्त्त में पुनः प्रवेश कर सके थे।

"इन्हीं बौद्धों ने गुप्त शत्रु का काम किया है। कई बार के विताड़ित हूण इन्हीं लोगों की सहायता से पुनः आये हैं। इन गुप्त शत्रुओं को कठोर दण्ड का उचित दण्ड मिलना चाहिये।

प्रज्वलित की थी और अपने धर्म को ऊपर उठाने के लिये अधर्म का रास्ता अपनाया था। यह उसका वास्तविक धर्मप्रेम न था, यह थी उसकी धर्मान्धता, "क्रूर कर्म की अवतारणा से भी एक बार सद्धर्म के उठाने की आकांक्षा।" इसी धर्माचरण की शर्वनाग ने हँसी उड़ाई थी।

"प्रपंच०—धर्म की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना होगा।

शर्व०—भिक्षु शिरोमणे! वह कौन सा धर्म है, जिसकी हत्या हो रही है?

प्रपंच—यही हत्या रोकना। अहिंसा, गौतम का धर्म है। यज्ञ की बलियों को रोकना, करुणा और सहानुभूति की प्रेरणा से कल्याण का प्रचार करना। हां, अवसर ऐसा है हम वह काम भी करें जिससे तुम चौंक उठो। परन्तु नहीं, वह तो तुम्हें करना ही होगा।

भटार्क—क्या?

प्रपंच०—महादेवी देवकी के कारण राजधानी में विद्रोह की सम्भावना है, उन्हें संसार से हटाना होगा।

शर्व०—ठीक है, तभी आप चौंकते हैं और तभी धर्म की रक्षा होगी, हत्या के द्वारा हत्या का निषेध कर लेंगे—क्यों?"

बौद्धों का यही आचरण हूणों के षड्यंत्र में भी सहायक होता है। ... का चर भटार्क से कहता है "आर्य महाश्रमण के पास से ... हैं। समस्त सद्धर्म के अनुयायी और सब स्कन्दगुप्त के विरुद्ध ... । याज्ञिक क्रियाओं की प्रचुरता से उनका हृदय धर्मनाश के भय से ... उठा है और सब विद्रोह करने के लिए उत्सुक हैं।"

बौद्धों और ब्राह्मणों का द्वन्द्व इसी धर्मान्धता और अदूरदर्शिता का परिचायक है। यदि केवल प्रपंचबुद्धि और महाश्रमण में ही अन्तः विद्रोह की भावना होती तो स्कन्द के लिये उन्हें दबाना कठिन

न होता। लेकिन पूरी बौद्ध जनता के ये भाव नायक के लिए एक विकट समस्या उपस्थित कर देते हैं। सनातन धर्म के इस अभ्युदय-काल में ब्राह्मणों की जो संकुचित मनोवृत्ति थी, वही बौद्धों की भी थी। साम्प्रदायिक भावनाओं ने एक दूसरे को कट्टर शत्रु बना दिया था, अतएव यह दृश्य ऐतिहासिक सत्यता का चित्र अंकित करने के साथ ही साथ नाटक में भी विशेष महत्त्व रखता है। उसे केवल कवि का इतिहास-प्रेम-प्रदर्शन कहना भूल होगा।

वस्तु-संकलन में पूर्ण समाहार हुआ है। घटनाओं में प्रवाह है लेकिन इतनी तीव्रता नहीं कि पाठक की विचार शक्ति पिछड़ने लगे। आशंका और जिज्ञासा की प्रत्येक दृश्य में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है और अन्त में उसका समाधान पाँचवें अंक में होता है। औत्सुक्य की चरम सीमा चौथे अंक में पहुँच जाती है जहाँ स्कन्द की सारी आशाएँ निर्मूल हो जाती हैं। वह अकेला अपने भाग्य को कोसता हुआ इधर उधर मारा मारा फिरता है। उसके हृदय में शान्ति नहीं, कुटुम्ब में शान्ति नहीं, राज्य में शान्ति नहीं। शर्वनाग, पर्णदत्त, भटार्क सभी "लुट गये से, अनाथ और आश्रयहीन"। आशा की किरण भी नहीं। पढ़ते पढ़ते हृदय घबरा उठता है। आगे क्या होगा? यही प्रश्न हमारे सामने नाचता रहता है। नाटककार धीरे-धीरे इस दयनीय दशा को बढ़ाता ही गया है, अन्त में घटनायें चरमसीमा पर पहुँच कर पूर्ण शान्ति में समाप्त होती हैं।

[illegible]

सम्राट् को दूँगी और एक बार बनूँगी महादेवी। क्या नहीं होगा? अवश्य होगा। अदृष्ट ने इसीलिए इस रक्षित रत्नगृह को बचाया है। उससे एक साम्राज्य ले सकती हूँ।”

घटना के थोड़ी देर पहले ही उसी दृश्य में विजया ने फिर से इन्हीं रत्नगृहों की बात छेड़ दी है, वह स्कन्द से कहती है—

“मेरे पास अभी दो रत्नगृह छिपे हैं जिनसे सेना एकत्र करके तुम सहज ही इन हूणों को परास्त कर सकते हो।”

यह सम्भव है कि विजया ने इन रत्नगृहों को कहीं आसपास की भूमि में ही छिपा रक्खा हो। इस प्रकार रत्नगृहों का भूमि से निकल आना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं।

प्रथम दृश्य की पीठिका

घटना-प्रस्फुटन बहुत ही धीरे धीरे हुआ है, जिससे दर्शकों की स्मरण शक्ति पर अधिक भार नहीं पड़ता। प्रथम दृश्य की पूर्व पीठिका बड़ी सुन्दर और सामंजस्यपूर्ण हुई है। महान् ऐतिहासिक पार्श्व भूमि का कितना संक्षिप्त और तीव्र दृश्य नाटककार ने हमारे सामने रखा है। इस दृश्य के विषय में लेखक के विचार श्री शिलीमुखजी से कुछ भिन्न हैं। वे स्कन्दगुप्त के प्रथम दृश्य को अच्छा नहीं मानते क्योंकि “वह इतिहास का एक परिच्छेद-सा हो गया है और पाठक या दर्शक [illegible] मनोरञ्जक वृत्ति की अपेक्षा उसकी स्मरण शक्ति का ही अधिक [illegible] करता है। प्लाट की दीर्घता के कारण और भी कहीं कहीं [illegible]ण शक्ति की अपेक्षा होती है।” वास्तव में स्कन्दगुप्त [illegible] प्रथम [illegible] ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का कितना अच्छा परिचायक [illegible] अन्य दृश्य नहीं, परन्तु इसके कारण उसका मनोरंजन [illegible] कोई बात नहीं। पर्णदत्त [illegible] स्कन्द से बातों [illegible] ‘राजनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है [illegible]” आदि, [illegible] द्वारा उदासीनता का स्पष्टीकरण और स्कन्द का [illegible]

इस मनोरंजक और भावपूर्ण स्थल हैं ? क्या हमारी उत्कण्ठा और रागात्मक प्रवृत्ति इन स्थलों में गुम ही पड़ी रहती है ? दृश्य में कार्य व्यापार की अधिकता भी पर्याप्त है लेकिन नाटककार हमारी स्मरण शक्ति पर भार नहीं डालना चाहता । मुख्य-मुख्य घटनाओं की पुनरा-वृत्ति इसी कारण उसने दूसरे तीसरे और चौथे दृश्यों में कर दी है । घटना-बाहुल्य उसने एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही रखा है जिस पर हम आगे विचार करेंगे ।

पहले दृश्य में हमें मुख्य तीन सूचनायें ही मिलती हैं—(१) स्कन्द का अपने अधिकारों के प्रति उदासीनता (२) हूणों का आतंक (३) कुमारगुप्त का शासन से हटा हुआ दिल । इसमें सन्देह नहीं कि छोटी-छोटी सी घटनायें, जैसे वीरसेन की मृत्यु का समाचार, पुष्यमित्रों का युद्ध चलना, सौराष्ट्र और मालव पर हूणों और शकों का नवीन अभि-

हुआ है। प्रत्येक अंक का प्रत्येक दृश्य हमारी जिज्ञासा को बढ़ाता ही जाता है दृश्य का निर्माण भी इसी आधार पर हुआ है। कहीं-कहीं तो भावों को चरमसीमा पर ले जाकर एकदम पटाक्षेप करने से नाटककार दर्शकों को ऊपर ले जाकर शून्य में छोड़ देता है जिससे तीव्रतम रसोत्पादन में नाटककार सफल हो सका है। फिर भी नाटककार ने कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आने दी। देवकी का मृत्यु के इतने समीप पहुँचना हमारे कौतूहल और भावावेश बढ़ाने में मुख्य स्थान है। स्कन्द का ठीक समय पर पहुँचना उतना अस्वाभाविक नहीं क्योंकि उसके पूर्व ही धातुसेन और मुद्गल का कारागार में देवकी की मुक्ति की बात और स्कन्द का मगध पहुँचना हमें मालूम हो चुका था। थोड़ी सी अस्वाभाविकता स्कन्द के देर में पहुँचने में हो सकती है, क्योंकि यदि रामा देवकी के प्राण बचाने में प्रयत्न न करती तो बहुत पहिले ही देवकी स्वर्गलोक पहुँच चुकी होती। स्कन्द का इतनी देर लगाना और देवकी पर आक्रमण होने के एक क्षण पूर्व पहुँचना केवल दर्शकों के भावों में क्रंदन मचाने को है। अच्छा तो यह होता कि स्कन्द के आने की सूचना नाटककार हमें बाद वाले दृश्य में देता। एकाध स्थान पर और भी ऐसी ही असंभवनीय घटनायें आ गई हैं। स्कंद श्मशान में मातृगुप्त की प्रतीक्षा करता हुआ प्रपंचबुद्धि को देखता है। "ओह! कैसा भयानक मनुष्य है! कैसी क्रूर आकृति है! मूर्तिमान [illegible] है—अच्छा, मातृगुप्त तो अभी तक नहीं आया। छिप कर देखूं।" छिपकर क्या देखना चाहता है? क्या प्रपंचबुद्धि का? लेकिन [illegible]ने की उत्कंठा स्कन्द को प्रपंच के समीप ले जाती है। हाँ, उसका [illegible] देवसेना के प्राण बचाने में सहायक अवश्य हुआ है।

चरित्र-चित्रण

[illegible]ों में अन्तर्द्वन्द्व

कथानक की तरह स्कन्दगुप्त का चरित्र-चित्रण भी [illegible] हुआ है। अन्तस्तल की उन [illegible] धाराओं पर भी [illegible]

डाला है जिनको मनुष्य का दम्भ सदैव छिपाने का प्रयत्न करता रहता है। मानव-चरित्र इतना सरल नहीं है कि वह अच्छे और बुरे के दो वर्गों में बट जावे। नीचे से मनुष्य के हृदय में कभी न कभी सद्भाव की प्रेरणा होती है और आदर्श चरित्र भी किसी न किसी दुर्बलता का शिकार बना रह जाता है। यदि मानव-चरित्र इतना जटिल न होता तो मानव मानव न रहकर या तो हिंसक पशु होता या उसमें देवताओं के ही गुण रहते, परन्तु मनुष्य मनुष्य ही है। उसमें जहां देवताओं के गुण विद्यमान हैं वहां हिंस्र पशुओं की क्रूरता और स्वार्थ परता भी उसमें है। इन दो असमान गुणों का भिन्न भिन्न सम्मिश्रण से ही मानव चरित्र में अनेकरूपता का सृजन होता है। बुराई और भलाई सब में होती हैं लेकिन उसकी अधिकता और न्यूनता से ही हम महापुरुषों और सज्जनों की प्रतिष्ठा करते हैं।

पर्ण, विजया और देवसेना तथा देवकी और अनन्तदेवी के दर्शन होते हैं। जयमाला मालव की रानी न रहकर स्वर्ग की देवी होती यदि वह अपना राज्य स्कन्द को अर्पण करने में आनाकानी न करती। देवता तक तो अपने स्वार्थ के लिये लड़ते सुने गये हैं—फिर तो जयमाला इस संसार की एक साधारण रानी थी। सारा नाटक ही समाप्ति को आ जाता यदि स्कन्द सचमुच ही साधारण सैनिक ही बना रहना चाहता और शायद वह भारत का सम्राट् भी कभी न हो सकता यदि नीन भटार्क की सद्प्रेरणा उसे सत्पथ पर न लाती।

चरित्रों में विकास

संसार का घटनाचक्र मनुष्य की इच्छाओं से स्वतंत्र चलता रहता है। मनुष्य उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है लेकिन मानो वह नियति का खिलौना ही है, जो उसे नित्यप्रति खेल खिलाती है। उसका और नियति का सदैव ही यह घात-प्रतिघात चला करता है। कभी नियति उसे किसी ऊँचे सिंहासन पर बैठाती है तो कभी उसे किसी मार्ग में भीख माँगते हुए फिराती है। स्कन्द भी अपने भाग्य के साथ खेलता था "चेतना कहती है कि तू राजा है और उत्तर में जैसे कोई कहता है कि तू खिलौना है।" स्कन्द ही क्यों? भटार्क, देवसेना, विजया सभी प्रकृति के खिलौने मात्र ही रहे हैं। उनका बाह्यद्वन्द्व घटनाचक्र के साथ चलता रहा और इस घात-प्रतिघात का प्रभाव उनके चरित्र पर पड़ता रहा। यही बाह्यद्वन्द्व ही मानव-चरित्र में परिवर्तन करता है, जिसे हम नाटक में चरित्र का विकास कहते हैं। स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण का यह एक आवश्यक अंग है। स्कन्द के सभी [illegible] में हम यह विकास पाते हैं। अपने प्रारम्भ से धीरे-धीरे विकसित हो नाटक की समाप्ति तक चरित्र अपने वास्तविक रूप [illegible]।

अन्तर्द्वन्द्व और चरित्रों के विकास के कारण ही स्कन्द के [illegible] बहुत ही स्वाभाविक हुए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि नाटक में [illegible]

...की मात्रा अधिक है लेकिन नाटक विस्तृत होने के कारण प्रत्येक मुख्य चरित्र के आन्तरिक द्वन्द्व और विकास की ओर नाटककार का ध्यान जाना गया है। नाटक के मुख्य चरित्रों तक ही नाटककार का यह मनोवैज्ञानिक चित्रण सीमित रहा हो, यह बात भी नहीं है। उदाहरण ... के आक्रमणों से दुखी स्त्री पुरुषों की यह दयनीय दशा ... । ... सेनापति की आज्ञा से बालकों को जलाया जानेवाला ... कोमल शरीरों पर जलते हुए लोहों के दाग लगने वाले ... । भला ... दारुण विपत्ति में भगवान के सिवाय और कौन सहायक हो सकता है ? भगवान तक अपनी करुण पुकार पहुँचाने के लिये, उनके हृदय में पीड़ित नागरिकों के लिये दया उत्पन्न करने के लिये ... आवाज ही काम में आ सकती है। नागरिकों के हृदय ... पड़ता है, उनके हृदय की करुण भावना साकार हो ... के लिये स्वाभाविक रूप से कविता का ही आश्रय लेगी। ... तीव्रता भी विलीन हो जावेगी, अतएव—

हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो
हमारे दीन के सम्बल कहाँ हो

नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या
सुना केवल यहाँ हो या वहाँ हो

पुकारा था किसी ने तब सुना था
भला विश्वास यह हमको कहाँ हो

... दुःखियों की प्रार्थनाओं से कितना ... करने के लिये ही है, लेकिन ... नहीं ... नाटक के अंत ...

प्राणी ही है। संसार में अपने को सब से अधिक प्रभावशाली समझने का उसे अभ्यास सा हो गया है, अतएव स्त्रियों ने पुकारा—

हमारे निर्बलों के बल कहां हो
हमारे दीन के सम्बल कहां हो

लेकिन जब भगवान् न आये तो पुरुष भगवान् के अस्तित्व पर ही हस्तक्षेप करने लगे—

नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या
सुना केवल यहां हो या वहां हो

कितनी छोटी सी बात है, लेकिन मनोविज्ञान ने स्त्रियों से ऐसी बात कहने का साहस न किया होता। भगवान् की प्रार्थना प्रार्थना ही है। लेकिन प्रार्थना हृदय की उस भावुकता की अभिव्यक्ति है जो स्वयं मनुष्य के जीवन पर—उसके चरित्र पर अवलम्बित रहती है।

स्कन्दगुप्त

लालसा और कर्त्तव्य

स्कन्द नाटक का नायक है। मगध के राज्य का उत्तराधिकारी भी वही है। लेकिन अव्यवस्थित उत्तराधिकार-नियम उसकी भविष्य की आशाओं पर पानी फेर दे रहा है। उसका एकमात्र उद्देश्य भारतवर्ष को फिर से एक साम्राज्य में सम्बद्ध करना है। उसे हूणों के आक्रमणों से सुरक्षित करना है। वह साम्राज्य का एक सैनिक रहना चाहता है। लेकिन—? लेकिन सम्राट के रूप में। साधारण सैनिक के रूप में नहीं। सम्राट बनने का प्रलोभन उसके हृदय में है, परन्तु अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये वह विद्रोह नहीं करना चाहता। उसकी सत्प्रवृत्ति उसे सुमार्ग की ओर ही ले जाना चाहती है, पर हृदय की आकांक्षा दबाने पर भी नहीं दबती। वह अधिकार-सुख को मादक और सारहीन समझकर अपने हृदय को उससे विरक्त करने का प्रयत्न करता है। लेकिन "ओह हम तो साम्राज्य के एक सैनिक हैं

ने उसके हृदय का वैराग्य न मालूम होकर उस प्रवृत्ति को टालने का प्रयत्न ही दिखता है। युवराज का अकेले टहलकर केवल इस बात को सोचना कि "अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है। अपने को नियामक और कर्त्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है। उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं?" उसके आन्तरिक भावों का ही द्योतक है। यदि स्कन्दगुप्त वास्तव में इतने उदासीन थे तो उन्हें अधिकार का यह प्रश्न उठाना ही न था। पुरगुप्त के लिए मंत्रणा चल रही थी। युवराज के लिए तो यह आगे में सुगंध का मौका था। अन्तर्विद्रोह का कारण भी न रहता, अधिकार सुख की मादकता भी न रहती और स्कन्द सैनिक के रूप में अधिक काम कर सकता। परन्तु स्कन्द एक दुर्बल मनुष्य ही था। अधिकार, मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु, वह कैसे ठुकरा सकता था। भारत के उत्तराधिकार के अव्यवस्थित नियम ने स्कन्द के हृदय में लोभ पैदा कर दिया है। यह भयानक तूफान भले ही न हो, लेकिन वह इतना शान्त समीरण भी नहीं कि उसका प्रभाव प्रकृति पर न पड़े। यह ठीक है कि स्कन्द पुरगुप्त के समान नीच प्रकृति का पुरुष न होता, वह

नित्य नये-नये परिवर्तन।" स्कन्द पहली बात को टाल देता है और चट दूसरी बात पर आ जाता है। वह पूछता है—"क्या आर्य गया का कोई नया समाचार है ?"

वृद्ध पर्णदत्त से भले ही यह बात छिपी हो लेकिन उसके साथ रहने वाला, उसका समवयस्क चक्रपालित उसकी उदासीनता का कारण जानता है। पर्ण के पूछने पर वह कितना स्पष्ट उत्तर देता है।

"पर्ण—तुम्हारे युवराज अपने अधिकारों के प्रति उदासीन हैं। वे पूछते हैं 'अधिकार किस लिए ?'

चक्र—तात, इस किस लिए का अर्थ मैं समझता हूं।

पर्ण—क्या ?

चक्र—गुप्त कुल का अव्यवस्थित उत्तराधिकार नियम।"

स्कन्द की भौंहें टेढ़ी पड़ जाती हैं। उसके हृदय का भाव चक्र समझ कर व्यक्त करे, उसकी छिपी हुई आकांक्षाओं का अवगुण्ठन वह उठाये, यह उसे पसन्द नहीं। वह पूछता है—

'चक्र, सावधान ! तुम्हारे इस अनुमान का कुछ आधार भी है ?"

परन्तु चक्र का अपने अनुमान पर पूर्ण विश्वास है। वह कहता है—

अपनी अभिलाषाओं को भुलावा देना चाहता है। यह त्याग का आदर्श शायद वह बहुत दिनों से सोच रहा था। इस कारण प्रत्येक त्याग को वह इसी आदर्श की ओर झुकाना चाहता है। प्राणों का मोह त्याग करना ही वह वीरता का रहस्य समझता है। परन्तु क्या वास्तव में वीरता की यही परिभाषा है? दुःखी गरीब और पापी आदमी भी मृत्यु को अपना लेना चाहते हैं। स्कन्द जैसे वीर से वीरता की इतनी उथली परिभाषा हम स्वीकार नहीं कर सकते। इसका तो केवल यही एक उपयुक्त कारण हो सकता है कि स्कन्द अपनी अभिलाषाओं को भुलावा देना चाहता है। चक्रपालित के स्कन्द से यह पूछने पर कि "सिंहासन कब तक सूना रहेगा" स्कन्द अपने उच्चादर्शों को बताते हुए कहता है, "नहीं चक्र। अश्वमेध पराक्रम स्वर्गीय सम्राट कुमारगुप्त का आसन मेरे योग्य नहीं है। मैं झगड़ा करना नहीं चाहता। मुझे सिंहासन नहीं चाहिए। पुरगुप्त को रहने दो। मेरा अकेला जीवन है।" परन्तु क्या वास्तव में स्कन्द को अकेला जीवन पसन्द है यदि ऐसा होता तो अन्तर्विद्रोह ही क्यों होता। भटार्क का प्रश्न भी

कम से कम परिस्थितियों के विचार से उन्होंने साम्राज्य का यह बोझ अपने ऊपर ले लिया है लेकिन वे परिस्थितियाँ कौन-सी हैं ? कम से कम नाटककार ने यह कहीं भी नहीं बताया । अतएव स्कन्द का यह कथन कि "अधिकार सुख कितना मादक और सारहीन है" स्कन्द के अधिकारों के प्रति उदासीनता का परिचायक नहीं । अधिकार-प्रेम किसी न किसी अंश में उनके हृदय में विद्यमान था । और इसी कारण ही उन्होंने मालव का सम्राट होना भी अंगीकार किया था ।

राजसिंहासन पर बैठने के पश्चात् स्कन्द फिर इसी विचार में लग जाता है । श्मशान में घूमते हुए वह कहता है, "इस साम्राज्य का बोझ किसके लिए ? हृदय में अशान्ति, राज्य में अशान्ति, परिवार में अशान्ति ? केवल मेरे अस्तित्व से । मालूम होता है कि सबकी—विश्व भर की—शान्ति रजनी में मैं ही धूमकेतु हूँ, यदि मैं न होता तो यह संसार अपनी स्वाभाविक गति से, आनन्द से चला करता । परन्तु मेरा तो निज का कोई स्वार्थ नहीं, हृदय के एक एक कोने को छान डाला कहीं भी कामना की वन्या नहीं । बलवती आशा की आँधी नहीं चल रही है । केवल गुप्त सम्राट के वंशधर होने की दयनीय दशा ने मुझे इस रहस्यपूर्ण क्रिया कलाप में संलग्न रखा है । कोई भी मेरे अन्तःकरण का आलिंगन करके न रो सकता है और न हँस ही सकता है । तब भी

भड़काना चाहता। इसीलिए वह अपने अधिकारों के प्रति उदासीन है। इसी अन्तर्विरोध को बचाने के लिए ही तो देशभक्त पृथ्वीसेन महाप्रतिहार ने अपना बलिदान दिया था।

"महाप्रतिहार! सावधान! क्या करते हो? यह अन्तर्विरोध का समय नहीं है। पश्चिम और उत्तर में काली घटाएँ उमड़ रही हैं, यह समय बलनाश करने का नहीं है . परन्तु भटार्क जिसे तुम खेल समझकर हाथ में ले रहे हो उस काल भुजंगी राष्ट्रनीति की प्राण देकर भी रक्षा करना। एक नहीं, सौ स्कन्दगुप्त उस पर न्योछावर हैं।"

मगध का षड्यन्त्र परिपक्व न होने पाया था कि अचानक स्कन्द वहाँ पहुँच गया। षड्यन्त्र टूट गया, भटार्क और अनन्तदेवी की इच्छा पूर्ण न हो पाई। वे, सेना द्वारा स्कन्द का सामना न कर सके, फलतः स्कन्द के सम्राट होने में कुछ भी रक्तपात का स्थान न रह गया। स्कन्द ने इसीलिए अपने को सम्राट घोषित कर दिया। बन्धुवर्मा का राज्य भी वह अपने साम्राज्य में मिला लेता है क्योंकि वह तो पूर्ण आर्यावर्त का सम्राट होना चाहता था। स्कन्द का यह कथन कि "मैं केवल एक सैनिक बनकर रह सकूँगा सम्राट नहीं" केवल दिखावा मात्र ही है।

देशप्रेम और विवेक

लिए सन्नद्ध हैं। जाओ निर्भय-निद्रा का सुख लो। स्कन्दगुप्त के जीते जी मालव का कुछ न बिगाड़ सकेगा।" सचमुच में "आर्य साम्राज्य के भावी शासक के उपयुक्त ही यह बात है" अन्यथा सम्राट का कार्य ही क्या—यदि वह भीषण परिस्थितियों में पड़कर केवल अपना ही भला करे और अपने अधीनस्थ राजाओं की समस्या सुलझाने में असमर्थ हो। स्कन्दगुप्त की यह उक्ति सचमुच वीरोचित ही है। ऐसे शासक को पाकर सचमुच में ही गुप्त साम्राज्य की लक्ष्मी प्रसन्न होगी। अपने वचन के समान ही वह कर्म करने में भी साहसिक और वीर है। थोड़ी-सी सेना को लेकर हूणों और शकों की विजय को पराजय में परिणत करना उसी का ही काम है। कूट मन्त्रणाओं और राजनैतिक चालों से भी स्कन्दगुप्त खूब परिचित है। प्रत्येक परिस्थिति का धैर्य और विवेक से सामना करना ही नायक का काम है। चन्द्रगुप्त के समान वह भारी सी कठिनाइयों से घबड़ा नहीं जाता। गान्धार की घाटी और कुभा रणक्षेत्र में उसकी कार्यपटुता देखते ही बनती है। चक्रपालित और स्कन्दगुप्त समवयस्क होते हुए भी अपने चरित्रों में भिन्न भिन्न हैं। चक्रपालित में यौवन का जोश है। विवेक नहीं, ... परिस्थितियों से पूर्ण परिचित भी नहीं हो सकता है। यदि

चक्र ? उसमें इतना विवेक कहाँ ? भटार्क यद्यपि स्कन्द को बालक ही समझता है, लेकिन उसके वाक्-चातुर्य्य के सामने उसे भी नतमस्तक हो जाना पड़ता है। भटार्क की निकलती हुई तलवार म्यान में ही रह जाती है। भटार्क के प्रस्थान के पश्चात् उसकी कार्य-प्रणाली उसकी दूरदर्शिता का बहुत सुन्दर परिचय देती है।

प्रेम

(स्कन्द विजया की ओर देखते हुए विचार में पड़ जाता है।)

गोविन्द—यह वृद्धा इसी कृतघ्न भटार्क की माता है। भटार्क के नीच कर्मों से दुखी होकर यह उज्जयनी चली आई है।

स्कन्द—परन्तु विजया, तुमने यह क्या किया ?

देवसेना—(स्वगत) आह ! जिसकी मुझे आशंका थी, वही है। विजया आज तू हारकर भी जीत गई।

देवकी—वत्स ! आज तुम्हारे शुभ महाभिषेक में एक बूंद भी रक्त न गिरे। तुम्हारी माता की भी यह मंगल कामना है कि तुम्हारा शासन दण्ड क्षमा के संकेत पर चला करे। आज मैं सब के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ।"

स्कन्द का मन फिर राजकार्य में नहीं लगता था। केवल "जैसी माता की इच्छा" कहकर राजसभा समाप्त कर देता है।

स्कन्द के हृदय में केवल विजया के लिए ही स्थान था। देवसेना के लिए नहीं। अपना कर्तव्य देखकर ही वह देवसेना की ओर झुका था।

स्कन्द—देवसेना, आज मैं बन्धुवर्मा की आत्मा को क्या उत्तर दूंगा ? जिसने निस्वार्थ भाव से सब कुछ मेरे चरणों में अर्पित कर दिया था, उससे कैसे उऋण होऊँगा ? साम्राज्य तो नहीं है, मैं बचा हूँ, वह अपना ममत्व तुम्हें अर्पित करके उऋण होऊँगा, और एकान्तवास करूँगा।

देवसेना—सो न होगा सम्राट ! मैं दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी। सम्राट ! देखो, यहीं पर सती जयमाला की भी छोटी सी समाधि है उसके गौरव की

न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी, परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।

स्कन्द का देवसेना के प्रति प्रेम कर्त्तव्य के रूप में ही है। और इस रूप में उसका चरित्र अधिक आदर्शमान् है। आगे चलकर यह कर्त्तव्य-प्रेम अवश्य ही सच्चा प्रेम बन जाता, और उसमें उसके हृदय की उच्छृङ्खलता नहीं मालूम होती।

देवसेना

देवसेना का चरित्र प्रसाद जी की एक अलौकिक भेंट है। प्रकृति की गोद में पली हुई वनदेवी के मूक प्रणय की यह करुण कहानी है। देश और प्रेम के लिए जिसका उत्सर्ग पारिजात के फूल से भी कोमल, हिमालय से भी महान् और वेदना से भी कठोर रहा हो, जिसने कोयल के मधुर सगीत में अपनी वेदना का स्वर मिलाकर हृदय में क्रन्दन मचाने वाले सगीत की रचना की हो, आई हुई थाती को—वर्षों के मीठे स्वप्नों के साकार स्वरूप को—कल्पना की मीड़ों द्वारा पाली हुई आकाङ्क्षाओं के सुफल को—वापिस लौटा दिया हो, उसी बाला का यह सौम्य सुन्दर चित्र है। पति-परायण सती जयमाला के मधुर प्रेम से आलोकित, उदार हृदय बधुवर्मा के सुखी कुटुम्ब में ही इस बालिका का चरित्र निर्मित हुआ था। जिसे प्रकृति के सगीत ने अपने जीवन को सगीत की तान बनाने की शिक्षा दी थी, उस बालिका का—उस देवसेना का—चरित्र हिमकिरणों से भी उज्ज्वल, शिशु से भी सरल, सावित्री सा आदर्शमान् और प्रकृति सा ही नियामक होना स्वाभाविक है। उसमें विजया के हृदय की उच्छृङ्खलता नहीं, जो महत्त्वाकाङ्क्षी का पुजारी रहे, उसमें विजया की भीरुता नहीं, जो कटारी को हृदय पर रखने में भयानकता समझे, उसमें विजया का स्वार्थ नहीं, उथला देश-प्रेम नहीं, प्रेम क्रय करने की इच्छा नहीं। देवसेना का चरित्र विजया के चरित्र के विरोधी उपकरणों की सस्तृति है। देवसेना की निर्मल

ख्याति को और भी अधिक दीप्तिमान् करने के लिए ही विजया के चरित्र के साथ अन्धकार का सृजन हुआ है। पाप के समकक्ष ही पुण्य का आलोक पूर्ण रूप से विकसित होता है—रात्रि में ही शशि राका के शीतल सौंदर्य से हम चकित होते हैं। विजया और देवसेना का सम्पर्क भी आलोक को और भी अधिक दीप्तिमान करने को है।

संगीत और प्रकृति

प्रथम अंक के अन्तिम दृश्य में जब पहली बार हमें इस प्रेम-प्रतिमा के दर्शन होते हैं तो उसका सारा व्यक्तित्व हमें मुग्ध कर लेता है। दुःख के समय भी गान? जिसका पूर्ण जीवन ही संगीतमय हो गया हो, जो प्रकृति की प्रत्येक क्रियाओं में एक तान, एक लय सुना करता है उसे दुःख क्या? और प्रेम क्या? जब प्रकृति ही संगीतमय है तब जीवन का रूप दुःख और प्रेम दोनों संगीतमय हैं। जिसने यह

देवी बन जाती है। वनदेवी के समान ही वह अपने अस्तित्व को मानवी जगत से भिन्न रखे है। विजया से वह कहती है, "विजया, प्रकृति के प्रत्येक परमाणु के मिलन मे एकमम है, प्रत्येक हरी हरी पत्ती के हिलने मे एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है। इसी से तो उसका स्वर विश्ववीणा मे शीघ्र नहीं मिलता। पाण्डित्य के मारे जब देखो जहाँ देखो, बेताल बेसुर बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी चहचह कलकल छलछल मे, काकिली मे, रागिनी है" प्रत्यक्षवाद और भौतिक वाद के पुजारी उसे क्या समझेंगे। विजया पूछती है,"राजकुमारी क्या कह रही हो ?" देवसेना तो उसी प्राकृतिक सगीत का स्वर होकर अपने ही आलाप मे मुग्ध हो कहती ही जा रही है। उसे श्रोताओं की आलोचना से क्या ?

देवसेना—तुमने एकान्त टीले पर, सबसे अलग शरद के सुन्दर मे फूला हुआ, फूलों से लदा हुआ पारिजात वृक्ष देखा है

विजया—नहीं तो।

देवसेना—उसका स्वर अन्य वृक्षों से नहीं मिलता, वह अकेले अपने सौरभ की तान से दक्षिण पवन मे कम्प उत्पन्न करता है, कलियों को चटकाकर ताली बजाकर, झूम झूमकर नाचता है। अपना नृत्य अपना संगीत वह स्वयं देखता है—सुनता है। उसके अन्तर में जीवन शक्ति वीणा बजाती है। वह बडे कोमल स्वर मे गाता है—

घने प्रेम तरु तले।"

लेकिन देवसेना कोई वनदेवी नही, कोई सुरबाला नही। वह भी ...ी ससार की एक सरल हृदय रमणी है। उसने प्रेम करना भी सीखा ... परन्तु उसका प्रेम मानवीय स्वार्थ का प्रेम नहीं। जो अपने प्रेमी को अपने अन्तराल मे छिपाने का प्रयत्न करता है। यदि प्रेम सचमुच मे परमात्मा है तो वह प्रेम के उत्सर्ग, बलिदान और त्याग मे ही वास

के नीचे दबा दी गई है तब वह स्वयं चाहे ईश्वर ही हो तो क्या ?"

"विस्मृति" की इसी वेदना ने देवसेना के जीवन मे करुणता ला दी है। मीठी सगीत की तान जब करुण रस की धारा बहाती है तो हमारे हृदय को हिला देती है। हमारे अस्तित्व को ही कुछ क्षणों के लिए भुला देती है। इसी कारण से ही शायद वागेश्वरी इतनी सर्वप्रिय है। वागेश्वरी की करुणता भले ही उतनी लोकप्रिय न हो, लेकिन जब वह देवसेना के रूप मे प्रगट होती है तब कोई भी ऐसा नहीं जो उसके सामने अपने को विस्मृत न कर दे। देवसेना के सर्व-प्रिय होने का यही रहस्य है।

तृतीय अक में जहाँ देवसेना और उसकी सखियो का परिहास हम उपवन मे देखते हैं, वहाँ देवसेना का दारुण दुख फूट कर निकल पडता है। हँसमुख चेहरे पर उदासी की झलक दिखाई दे जाती है। जयमाला कहती है—

"तू उदास है कि प्रसन्न, कुछ समझ मे नहीं आता। जब तू गाती है तब तेरे भीतर की रागिनी रोती है और जब हँसती है तब जैसे विषाद की प्रस्तावना होती है।"

हास्य और करुण के इस सम्मेलन ने इस दृश्य को और भी अधिक करुण बना दिया है। इसी कारण से ही देवसेना की पीडा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उसकी आखो से आसू बहने लगते हैं, फिर हृदय के उफान को दबाने का प्रयत्न कितना सुन्दर है।

त्याग

त्याग तो मानों उसके चरित्र मे मूर्तिमान् होकर ही आ गया है। जया के लिए तक वह अपने सर्वस्व को लुटा देना चाहती है। जय स्कन्द को प्रेम करती है तो अच्छा है, भगवान के तो अनेकों पुजारी होते हैं। सच्ची पूजा से ही तो भगवान् प्रसन्न होते हैं। विजया के कारण ही देवसेना अपने प्रेम को अपने अन्तस्तल मे ही छिपाये

नहीं। प्रेम तो हृदय की मनोवृत्ति है, उसे स्पष्ट करने से क्या लाभ ? फिर भी आशा और निराशा की हिलोरें मुख पर सुख और दुख की रेखाएँ अंकित कर ही देती हैं। विजया चक्र की ओर आकृष्ट हुई। देवसेना की आशा में फल लगना प्रारंभ हो गया। उसका स्वर्ग शायद उसे मिल जावे, फिर भी कितना अस्पष्ट उल्लास है। विजया बेचारी देवसेना के सुख का मर्म जान सकती है ? वह तो उसके हृदय का स्रोत था, जो हृदय मेरु से मँडराता हुआ संगीत के छोटे से झरने से बाहर निकल पड़ा था।

आत्मसमर्पण ही तो मोक्ष है। त्याग से ही तो ईश्वर मिलता है। देवसेना इसी त्याग की कितनी सुन्दर व्याख्या करती है—उसकी संगीत-रुचि ने त्याग को भी संगीतमय बना दिया है। "भाभी, सर्वांश के स्वर में, आत्मसमर्पण के प्रत्येक ताल में अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना एक मनोहर संगीत है। क्षुद्र स्वार्थ, भाभी, जाने दो, भाभी! देखो, कैसा उदार, कैसा महान् और कितना पवित्र!'

नहीं चाहती थी, इसी कारण कापालिक के समीप अपनी मृत्यु जानकर वह कहती है—

"परन्तु कापालिक, एक और भी इच्छा मेरे हृदय में है वह पूर्ण नहीं हुई है। मैं डरती नहीं हूँ। केवल उसके पूर्ण होने की प्रतीक्षा है। विजया के स्थान को मैं कदापि ग्रहण न करूँगी। उसे भ्रम है यदि वह छूट जाता।"

देवसेना के दुख को पूर्ण विरह-दुख समझना भूल ही होगा। उस आत्माभिमानिनी को अपने प्रेम का मूल्य हलका होना सबसे अधिक खटकता है। जिसके भाई ने देश-प्रेम के कारण अपने देश को निस्वार्थता से त्याग दिया हो उसके त्याग को स्वार्थ के रूप मे देखना उसे असह्य था। वह अपने प्रेम का मूल्य नहीं रखना चाहती थी। वह प्रेम क्रय न करना चाहती थी। इस कारण मालव के त्याग ने उसकी आशाओं को पानी मे डुबो दिया। देवसेना के उत्तर मे कितना व्यङ्ग और कितना दुख भरा हुआ है।

प्रार्थना किसने की है, यह रहस्य की बात है। क्यों ? कहूँ ? प्रार्थना हुई है मालव की ओर से, लोग कहेंगे कि मालव देकर देवसेना का व्याह किया जा रहा है।" लेकिन सखियाँ उसकी मार्मिक पीडा को क्या समझतीं। उन्हें हँसी सूझती ही गई। दुख असह्य हो गया—"क्यों घाव पर नमक छिडकती है ? मैने कभी उनसे प्रेम चर्चा करके उनका ...म न नहीं होने दिया है। नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता, कचो- का सुख मिलता है। जब हृदय मे रुदन का स्वर उठता है तभी ...ीत की वीणा मिला देती हूँ। उसी में सब छिप जाता है। (आँखों आँसू बहाता है।)

१ सखी—है—हैं, क्या तुम रोती हो ? मेरा अपराध क्षमा करो।

देवसेना—(सिसकती हुई) नहीं प्यारी सखी ! आज ही मैं प्रेम के नाम पर जी खोलकर रोती हूँ। बस फिर नहीं। यह एक क्षण का रुदन अनंत स्वर्ग का सृजन करेगा।

सखी—तुम्हें इतना दुख है मैं यह कल्पना भी न कर सकी थी।

देवसेना—(मुस्कराकर) यही तू भूलती है। मुझे तो इसी में सुख मिलता है, मेरा हृदय मुझसे अनुरोध करता है, मचलता है, रूठता है मैं उसे मनाती हूँ। आँखें प्रणय कलह उत्पन्न करती हैं, चित्त उत्तेजित करता है, बुद्धि भड़कती है, कान कुछ सुनते ही नहीं। मैं सबको समझाती हूँ, विवाद मिटाती हूँ सखी, फिर भी मैं इसी झगड़ालू कुटुम्ब में गृहस्थी सम्हालकर स्वस्थ हो कर बैठती हूँ।"

सखी—आश्चर्य ! राजकुमारी ! तुम्हारे हृदय में एक बरसाती नदी वेग से भरी है।

देवसेना—कूलों में उफनकर बहनेवाली नदी, तुमुल तरंग, प्रचण्ड पवन और भयानक वर्षा। परन्तु उसमें भी नाव चलानी ही होगी।"

प्रेम, वेदना और त्याग का कितना स्पष्ट चित्रण इस दृश्य में हुआ [illegible] [illegible] में से यह भी एक दृश्य है।

संगीत सभा की अन्तिम लहरदार और आश्रयहीन तान, धूपदानकी एक क्षीण गन्ध धूम-रेखा, कुचले हुए फूलों का म्लान सौरभ और उत्सव के पीछे का अवसाद, इन सबों की प्रतिकृति – मेरा क्षुद्र नारी जीवन ? मेरे प्रिय गान ? अब क्यों गाऊँ और क्या सुनाऊँ ? इस बार-बार के गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है ! केवल सुनने की ही नहीं प्रत्युत उसके साथ अनतकाल तक कंठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।" अस्तु।

देवसेना ने अपने इसी आत्माभिमान के कारण ही अपने आये हुए धन को लौटा दिया। वह अपने स्वार्थ के लिए भाई की उदारता को क्रय में परिवर्तित नहीं करना चाहती।

"देवसेना—सो न होगा सम्राट ! मैं दासी हूँ। मालव ने जो देश के लिए उत्सर्ग किया है उसका प्रतिदान लेकर मृत आत्मा का अपमान न करूँगी। सम्राट देखो यहीं पर सती जयमाला की भी छोटी-सी समाधि है, उसके गौरव की भी रक्षा होनी चाहिये।

स्कन्द—देवसेना, बन्धु बन्धुवर्मा की भी तो यही इच्छा थी।

देवसेना—परन्तु क्षमा हो सम्राट ? उस समय आप विजया का स्वप्न देखते थे, अब प्रतिदान लेकर मैं उस महत्व को कलंकित न करूँगी। मैं आजीवन दासी बनी रहूँगी; परन्तु आपके प्राप्य में भाग न लूँगी।"

वैराग्य

देवसेना का त्याग विजया की उच्छृंखलता से कितना भिन्न है—कितना गौरवपूर्ण है। अपने स्वार्थ के लिए वह अपने कर्तव्य से नहीं हटना चाहती—"आपको अकर्मण्य बनाने के लिए देवसेना जीवित न रहेगी।" देवसेना का यह त्याग कितना प्रेमपूर्ण है, कितना ऊँचा है। जिसके लिए वह अपने जीवन भर स्वप्न देखती रही—उसी द्वार

[illegible] विराग [illegible] लौटा रही है। विजया के समान इसमें प्रतिहिंसा नहीं। यह प्रेम की भी चरम सीमा है जहाँ अपने प्रेमी के सुख और आदर्श के लिए अपने सर्वस्व की तिलाञ्जलि दे दी जाती है।

"सम्राट् क्षमा हो। इस हृदय में, आह कहना ही पड़ा। स्कन्दगुप्त को छोड़कर न तो कोई दूसरा आया और न वह जायगा। अभिमानी भक्त के समान निष्काम होकर मुझे उसी की उपासना करने दीजिये, उसे कामना के भँवर में फँसाकर कलुषित न कीजिये। नाथ! मैं आपकी ही हूँ, मैंने अपने को दे दिया है अब उसके बदले कुछ लिया नहीं चाहती।"

[illegible] महान् गुण है, परन्तु यह आदर्श सुख इस लोक [illegible] लोक में मिलता है। जीवन भर की आकांक्षाओं का [illegible] महान बलिदान है। जहाँ सब कुछ अपने देवता को अर्पण कर दिया जाता है, जहाँ अपना निज का कुछ नहीं, वहाँ स्वयं [illegible] भावना भी [illegible] हो जाती है।

भटार्क

अभिमान

"महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता मे रहता है।"

—चन्द्रगुप्त मे चाणक्य

भटार्क का चरित्र स्कन्द और देवसेना के चरित्रो के समान जटिल नहीं है, वह एक कर्तव्यनिष्ठ देश-प्रेमी, स्वामिभक्त और सत्यप्रतिज्ञ व्यक्ति है। यदि उसमे कोई दोष था तो वह थी उसकी महत्वाकाक्षा। महत्वाकाक्षा तो ससार के सभी व्यक्तियो मे पाई जाती है क्योंकि उसी पर उन्नति का लालसा अवलम्बित है। परन्तु यदि अपने स्वार्थ के लिए सत्पथ त्याग दिया जावे तो मनुष्य के लिए सचमुच एक विकट समस्या आ जाती है। महत्वाकाक्षा के साथ ही साथ भटार्क मे एक प्रकार का दम्भ भी था। उसे कुछ कर गुजरने की बडी लालसा थी। वह साम्राज्य के भावी शासकों का नियामक बनना चाहता था और इसी दम्भ और महत्वाकाक्षा के कारण उसे अपना सत्पथ त्याग देना पडा।

भटार्क को अपने बाहुबल पर पूर्ण विश्वास था, वह स्वय को एक महान् वीर समझता था पर यह उसका दम्भ ही था।

"बाहुबल से, वीरता से और अनेक प्रचंड पराक्रमों से ही मुझे मगध के महाबलाधिकृत का माननीय पद मिला है। मै उस सम्मान की रक्षा करूँगा।" लेकिन इस माननीय पद पाने मे अनतदेवी का हाथ था। पृथ्वीसेन के समान बुद्धिमान अमात्य ने इसका विरोध किया था और भटार्क का यह कथन—"यह मुझे स्मरण है कि पृथ्वीसेन के विरोध करने पर भी आपकी कृपा से मुझे महाबलाधिकृत का पद मिला है।" वास्तव मे अनन्तदेवी की चापलूसी नहीं है, क्योंकि भटार्क इस प्रकृति का पुरुप नहीं जो व्यर्थ ही दूसरों का कृतज्ञ होने के लिए तैयार हो। उसके दम्भ मे शिष्टाचार के लिए स्थान नही। भटार्क का दम्भ उसकी प्रत्येक बात में टपकता है। अनन्तदेवी को आश्वासन देते हुए वह

कहता है—"धैर्य रखिये। इस सेवक के बाहुबल पर विश्वास कीजिये।"
"अर्धरात्रि में निःसहाय अनन्त महादेवी की हत्या के उद्देश्य से घुसने-वाला भटार्क जब स्कन्द द्वारा तिरस्कृत होता है तो भटार्क अपने स्वाभाविक गर्व से कहता है—"राजकुमार, वीर के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिए।"

क्या भटार्क वास्तव में वीर था? उसकी वीरता का सन्देह कई बातों से होता है. (१) पृथ्वीसेन जैसे वृद्ध और अनुभवी अमात्य का उसके महाबलाधिकृत बनने में आपत्ति डालना, (२) स्कन्द से द्वन्द्व-युद्ध में हारना, गोविन्दगुप्त जैसे वृद्ध भी उसकी तलवार आसानी से छीन लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कुमारगुप्त की हत्या के समय उसने [illegible] से काम लिया है. लेकिन इसमें उसकी वीरता नहीं [illegible] ही मालूम होती है।

इसकी तुलना करो ।"

स्वामिभक्ति

यदि भटार्क में ये दो दोष न होते तो सम्भव है वह स्वामिभक्त, चरित्रवान् और गुणसम्पन्न व्यक्ति होता । वह गम्भीर है और सद्गुणों का पुजारी । पृथ्वीसेन महाप्रतिहार और दण्डनायक की मृत्यु के बाद जहाँ पुरगुप्त उन्हे पाखण्डी समझकर तिरस्कार से देखता है वहाँ भटार्क को इन स्वामिभक्त सेवको की मृत्यु मे दुःख होता है । वह सोचता है उससे कुछ भूल हो गई है ।

"पुरगुप्त—पाखंड स्वयं विदा हो गये । अच्छा ही हुआ ।
भटार्क—परन्तु भूल हुई । ऐसे स्वामिभक्त सेवक . ।"

अच्छे गुणो को परखनेवाला, उनकी सराहना करनेवाला स्वय गुणी होता है । वह भी कभी उस आदर्श को अपनाने का प्रयत्न करता है । यहीं चरित्र मे सुधार होने की आशा रहती है । उपयुक्त दोषों से शून्य होने पर वह भी इन्हीं अमर आत्माओं के समान स्वामिभक्त होता, परन्तु भविष्य के काल्पनिक सुखों की आशा ने उसे घृणित और निंदनीय कार्य करने का साधन बनाया । पुरगुप्त के जाने के एक क्षण पश्चात् ही वह कह उठता है—"तो जायँ सब जायँ, गुप्त साम्राज्य के हीरों से उज्ज्वल हृदय वीर युवकों का शुद्ध रक्त सब मेरी प्रतिहिंसा राक्षसी के लिए बलि हों ।"

इसी तरह प्रत्येक कुकर्म करने के पूर्व भटार्क की सद्बुद्धि उसे सजग करती है । वह कुचालों से दूर रहने का यथाशक्ति प्रयत्न करता है, परन्तु दम्भ और महत्वाकांक्षा के कारण वह सदैव विचलित हो जाता है । महादेवी देवकी के वध करने के प्रस्ताव का उसने समर्थन किया परन्तु उसका विवेक इसके विरुद्ध है । वह शर्वनाग के समान कर्तव्य-निष्ठ भले ही न हो, परन्तु उसके समान उसके हृदय मे भी पाप करने के पूर्व एक घृणा पैदा होती है । वह प्रपचबुद्धि के प्रस्ताव से स्वय

भटार्क—क्या वह टल गई ? (आश्चर्य से देखता है)

शर्व—क्यों सेनापति टल गई ?

प्रपंच—उस विपत्ति का निवारण करने के लिए ही मैंने यह कष्ट सहा। मैं तुम लोगों के भूत, भविष्य और वर्तमान का नियामक, रक्षक और द्रष्टा हूँ। जाओ अब तुम लोग निर्भय हो।

भटार्क—धन्य गुरुदेव !

शर्व—आश्चर्य !

भटार्क—शंका न करो, श्रद्धा करो। श्रद्धा का फल मिलेगा। शर्व अब भी तुम विश्वास नहीं करते ?"

संभवतः भटार्क का यह आचरण शर्वनाग को चंगुल में फँसाने के लिए समझा जावे। परन्तु अन्य अवसरों पर हम भटार्क की इसी प्रवृत्ति को स्पष्ट रूप से देखते हैं।

कृतज्ञता

भटार्क कृतज्ञ है। अपने अक्षम्य अपराधों की स्कन्द द्वारा क्षमा पाकर वह लज्जित हो जाता है। अपने दुष्कर्मों के लिए उसे पश्चात्ताप है।

"प्रपंच—उसने तुम्हें सूली पर नहीं चढ़ाया ?

भटार्क—नहीं उससे बढ़कर।

प्रपंच—क्या ?

भटार्क—मुझे अपमानित करके क्षमा किया। मेरी वीरता पर एक दुर्वह उपकार का बोझ लाद दिया।

प्रपंच—तुम मूर्ख हो। शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिए, न कि उसके उपकारों का स्मरण।

भटार्क—मैं इतना नीच नहीं हूँ।"

देवसेना के अन्त करने के षड्यंत्र में उसकी आत्मा काँप उठती है। भले और बुरे दोनों के द्वंद्व का चित्रण लेखक की कला-कौशल का अच्छा परिचायक है।

अतएव उनकी मृत्यु से उसके हृदय पर एक भयानक धक्का लगा। परन्तु माँ की भर्त्सना उसे असह्य थी! माँ को वह सबसे अधिक मानता था। माँ के रूठ जाने पर वह उसे रास्ते रास्ते मनाता फिरता रहा।

"माँ अधिक न कहो। साम्राज्य के विरुद्ध कोई अपराध करने का मेरा उद्देश्य नहीं था। केवल पुरगुप्त को सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा से प्रेरित होकर मैने यह किया। स्कन्दगुप्त न सही, पुरगुप्त सम्राट होगा।"

+ + +

"कमला—तू मेरा पुत्र है कि नहीं?

भटार्क—माँ, संसार में इतना ही तो स्थिर सत्य है और मुझे इतने पर ही विश्वास है। संसार के समस्त लांछनों का मैं तिरस्कार करता हूँ। किसलिए? केवल इसीलिए कि तू मेरी माँ है और वह जीवित है।"

देवकी की मृत्यु के पश्चात् माँ के शब्द जादू का कार्य कर गये। उसे अपनी भूल मालूम होने लगी, अपनी दुर्बुद्धि पर पश्चात्ताप होने लगा, "माँ, क्षमा करो! आज से मैने शस्त्र त्याग दिया—मैं इस संघर्ष से अलग हूँ। अब अपनी दुर्बुद्धि से तुम्हे कष्ट न पहुँचाऊँगा।"

बहुत पहले ही हो चुका हो। मेरा तो अनुमान है कि नाटक स्कन्दगुप्त के पूर्व ही लिखा जा चुका था क्योंकि नाटक की दृष्टि से इसमें कई भूलें हैं और वह स्कन्दगुप्त से निम्न श्रेणी की रचना है।

राय बाबू का चन्द्रगुप्त

स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त में समता भी बहुत कुछ है। नाटक का घटना-सगठन, उसका विस्तार, चरित्र-चित्रण बहुत कुछ स्कन्दगुप्त के समान ही है। केवल ऐतिहासिक अन्वेषण ने नाटक की पृष्ठभूमि को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। राय बाबू के चन्द्रगुप्त नाटक का अनुवाद १९१७ में आ चुका था और उसका हिन्दी साहित्य में मान भी अधिक हुआ था। अतएव प्रसाद जी के लिए यह आवश्यक था कि वे इस कथानक को कुछ मौलिक रूप में रखते। राय बाबू इतिहास के फेर में नहीं पड़े। उन्होंने इतिहास की प्रचलित सामग्री को लेकर साहित्य के साँचे में ढाल दिया है। इतिहास का उन्हें इतना ध्यान न था जितना साहित्य का। प्रसाद जी दूसरी ओर से ही चले मालूम होते हैं। उन्हें इतिहास का अधिक ध्यान था और सम्भवतः साहित्य का कम। जो ऐतिहासिक अन्वेषण उन्होंने १९०९ के बहुत पूर्व प्रारम्भ किया था वह १९२९ तक बराबर चलता ही रहा और इस रूप में ऐतिहासिक लक्ष्य की ओर ही नाटककार का ध्यान अधिक रहा मालूम होता है।

प्रसाद और राय बाबू के नाटकों में एक और अन्तर मालूम पड़ता है। राय बाबू का नाटक अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं को लेकर चला है, परन्तु प्रसाद जी का नाटक सकुचित राष्ट्र-भावना पर आधारित है। द्विजेन्द्रलाल राय के लिए सिकदर भी महान् था और चन्द्रगुप्त भी—क्योंकि दोनो वीर पुरुष थे—दोनो ससार की महान् विभूतियाँ थी। इतिहास सिकदर का चरित्र चन्द्रगुप्त से महान् बताता है। वह वीर था, वीरता का मान करने वाला था। उसमे असीम उत्साह था, वह

उस समय की फूट को भारतीय पराजय का मुख्य कारण बनाया है। पुरु अपने अभिमान में चूर था—आम्भीक पुरु से द्वेष रखता था; अतएव दोनो का पतन हुआ। लेकिन इस पतन में भी प्रसाद जी ने भारतीय संस्कृति की ही विजय रखी है। मालव गणतंत्रों ने एक साथ मिलकर सिकंदर से मोर्चा लिया था इस कारण सिकंदर को भारतीयों का लोहा मानना पड़ा।

दाण्डायन के आश्रम का दृश्य भी भारतीयता की विजय चित्रण करने के लिए रखा गया है। भारतीय गौरव प्रदर्शन करने के लिए ही प्रसाद जी ने इस विस्तृत ऐतिहासिक पीठिका को अपने नाटक में रखा है जिसके कारण उन्हे कई दृश्यों और चरित्रों की सृष्टि करनी पड़ी है। इसलिए नाटक में वह एकरूपता नहीं जो राय बाबू के चन्द्रगुप्त नाटक में मिलती है। उसमे वह उन्मुक्त प्रवाह नहीं, वह अबाध गति नही जो सफल नाटक के लिए आवश्यक है।

कथा-संगठन

फलागम की दृष्टि से नाटककार का उद्देश्य चन्द्रगुप्त का उत्कर्ष दिखाना है। किस प्रकार चन्द्रगुप्त तक्षशिला का एक साधारण स्नातक है और किस प्रकार परिस्थितियों ने उसे भारत का सम्राट् बना दिया। ् नाटक का संक्षिप्त कथानक है। प्रथम अंक मे हम इस चरित्र की रत. को देखते हैं। वह वीर है भारत की परिस्थितियाँ भी उसके लिए ५ुक हैं। अन्य वीर योद्धा वा चाणक्य के समान बुद्धिमान पुरुष उसकं सहायता के लिए तैयार हैं। प्रथम अंक में ही दाण्डायन उसके लि भविष्यवाणी भी करते हैं। हमे उसके उत्कर्ष के लिए आशा बँधने लगती है। द्वितीय अंक मे उसी वीर नायक की अध्यक्षता में सिकंदर को हारना पड़ता है और सिकंदर का प्रत्यावर्तन होता है। चाणक्य की कूटनीति पूरा काम करती मालूम होती है। तृतीय अंक में हम चन्द्रगुप्त को मगध का राजा होते देखते हैं। घटनाएँ एक दूसरे से पूर्ण संबद्ध हैं।

चतुर्थ अंक

नाटक विकास की या कार्य संकलन की दृष्टि से चतुर्थ अंक भले ही नाटक में उपयुक्त न हो पर वह विषय के अनुकूल अवश्य है। चन्द्रगुप्त का उत्कर्ष दिखाने के लिए उसे केवल मगध का राजा प्रदर्शित करना काफी नहीं था इस कारण उसके अकण्टक राज्य का चित्रण करने के लिए ही चतुर्थ अंक रचा गया है। इसमें हम उसको सेल्यूकस से [illegible] और सिंहरण को जो मालवा और तक्षशिला का अधिकारी है चन्द्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार करते पाते हैं। राक्षस भी चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार कर लेता है। और इस प्रकार चन्द्रगुप्त [illegible] उत्तरापथ का सम्राट हो जाता है।

से नाटक में कई अनावश्यक प्रसंग रख दिये गये हैं जो रसात्मक होते हुए भी व्यर्थ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि नाटक की सारी उपकथाएँ मुख्य कथानक में पूर्ण सबद्ध हैं। वे अजातशत्रु की उपकथानकों के समान स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखतीं। परन्तु उपकथानकों की भरमार इतनी अधिक है कि मुख्य कथानक का रूप ही हमारी समझ में नहीं आता। सिंहरण-अलका का प्रेम, पर्वतेश्वर-कल्याणी कथानक और कल्याणी-चन्द्रगुप्त प्रणय ये तीनों घटनाएँ मुख्य कथानक के विकास में किसी प्रकार की सहायता नहीं देतीं। यदि ये तीनों घटनाएँ निकाल दी जावें तो नाटक में कोई अरोचकता न होगी। हाँ, उसका कथानक काफी निखरे रूप में आ जावेगा। साथ ही चन्द्रगुप्त के चरित्र का विकास जो सिंहरण, पर्वतेश्वर आदि अन्य चरित्रों की अवतारणा वा उनके बार-बार नाटक में आ जाने से रुक जाता है, पूर्ण हो सकेगा।

नाटककार ने इन दृश्यों वा चरित्रों को केवल अपने देश-प्रेम और प्रसूति-कल्पना के कारण रखा है। सिंहरण और अलका नदी में बहते हुए दो तिनकों के समान मिल जाते हैं। कथानक के धाराप्रवह में उनका कोई महत्त्व नहीं। अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि इस कथानक के द्वारा पर्वतेश्वर के चरित्र पर प्रकाश पड़ता है और सिंहरण को अलका का प्रेम, उसको देश-सेवा के पुरस्कार-स्वरूप मिलता है। पर इससे तो पर्वतेश्वर की वीरता, उसकी इतिहास प्रसिद्ध -८ता पर ही छींटे पड़ते हैं। पर्वतेश्वर हमारे सामने कामुक और देश-द्रोही के रूप मे आता मालूम होता है।

पर्वतेश्वर-कल्याणी कथानक सम्भवत: उस समय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि खींचने के लिए ही रखा गया है। सिकन्दर की भारत विजय का कारण यहाँ की फूट ही बताई गई है और इस फूट का कारण आम्भीक और पर्वतेश्वर तथा मगध के विद्वेषपूर्ण संबंध से अच्छी तरह मालूम हो जाता है। कल्याणी-चन्द्रगुप्त कथानक

कार्य-सङ्कलन की दृष्टि से नाटक में अनावश्यक ही हैं। हमारे जीवन में कितनी ऐसी घटनाएँ हुआ करती हैं जिनका हम पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। कलाकार को मुख्य कथानक चयन में ऐसी घटनाओं का [illegible] करना पड़ता है। कल्याणी-चन्द्रगुप्त प्रणय चन्द्रगुप्त की मुख्य कथा का एक निरर्थक भाग है क्योंकि उसका कोई भी प्रभाव चन्द्रगुप्त के जीवन विकास पर नहीं पड़ता। दो पात्रों की अवतारणा भी अनावश्यक है, एक गान्धार का पिता वृद्ध राजा और दूसरा मालविका।

आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है, सम्राट! हम लोग जिस काम से आये हैं उसे करना चाहिए। फिलिपस को अन्तः-पुर की महिलाओं के साथ वाल्हीक जाने दीजिये।

सिकंदर—(कुछ सोचकर) अच्छा जाओ।"

चन्द्रगुप्त की यह प्रशंसा तो सिल्यूकस के अपराध को और भी सिद्ध करती है। फिर सिल्यूकस सिकंदर को पाठ पढ़ाने लगता है। सिकंदर जैसे भूल ही जाता है कि वह न्याय करने बैठा था और कह उठता है, "अच्छा जाओ।"

इसी प्रकार मालविका का प्रेम-प्रदर्शन करने के लिए—चन्द्रगुप्त मालविका से बातें कर रहा है। चाणक्य आकर कहता है, यह युद्ध का समय है, "छोकरियों से बात करने का समय नहीं"। चन्द्रगुप्त और चाणक्य का वार्तालाप होता है उसके बाद वह कहता है, "चलिये मैं अभी आया" और फिर मालविका से बातें करने लगता है। गुरु ने जिसके लिए मना किया था वही आचरण। गुरु का यह अपमान! फिर भी चाणक्य चुपचाप चले जाते हैं। चाणक्य बेचारा क्या करे, नाटककार को तो मालविका-प्रणय पूरा करना है।

इन सब कारणों से कथानक का रूप काफी विकृत हो चुका है। उसमें वह एकरूपता नहीं रह गई है जो नाटक के कथानक में उन्मुक्त प्रवाह लाता है। कथानक का विस्तार प्रासंगिक घटनाओं से इतना बढ़ गया है कि मुख्य घटना दब-सी गई है। मुख्य पात्रों का चरित्र-चित्रण भी स्पष्ट नहीं हो सका है और नाटक का विस्तार इतना हो गया है कि वह रंगमंच के उपयुक्त भी नहीं रहा।

चरित्र-चित्रण

एकांगी

कथानक के बढ़ जाने से पात्रों की संख्या भी बढ़ गई है जिससे

कारण सुन्दर चरित्रों के विकास पर बुरा प्रभाव पड़ा है। पूर्ण प्रस्फुटित न होने के कारण पात्र हमें केवल छाया मात्र ही मालूम होते हैं। वे हमारे सामने एक जटिल प्रकृति के मनुष्य के समान नहीं आते जिसमें प्रेम होता है, दया होती है, क्रोध होता है, घृणा होती है। जो हँसता है, रोता है, गाता है। चन्द्रगुप्त का कोई भी चरित्र इस जटिल प्रकृति का चित्र नहीं। उनमें मानव चरित्र के केवल एक ही अंग को ले लिया गया है और उसका चित्रण किया गया है। सिंहरण केवल वीर है, वह लड़ना जानता है, कभी-कभी प्रेम भी कर लेता है। बस। चन्द्रगुप्त सिंहरण के चरित्र के ढाँचे में ही ढला हुआ है। आम्भीक का पिता एक अयोग्य पुरुष है जो राजा होने के योग्य भी नहीं। नन्द विलासी है। राक्षस शकटार वररुचि भी एकांगी हैं। चाणक्य का चरित्र भी इतना सरल नहीं है इस कारण वही कुछ अच्छा चित्रित हो सका है।

काल मे वह मालविका या कार्नीलिया से प्रेम करता है।

सिंहरण वीर है। नंद विलासी और बाद मे निर्दयी हो जाता है, परन्तु अपने चरित्र-विकास या घटनाओं के कारण नहीं। वह पहले से ही अविवेकी राजा था—तभी तो शकटार को बन्दी किया था और चाणक्य को अपमानित कर निर्वासित किया था। पर्वतेश्वर के चरित्र मे अवश्य विकास है। वह अभिमानी राजा है परन्तु उसका अभिमान चूर हो जाता है और वह विरागी बन बैठता है। परन्तु यहाँ एक अस्वाभाविकता आ जाती है, जिसका कोई भी कारण नहीं। इस वैराग्य में वह फिर क्यो मगध का आधा राज्य माँगता है? क्यो कल्याणी से प्रेम कर अपनी मृत्यु बुलाता है? आम्भीक एक महत्वाकांक्षी कुमार है पर अंत मे अपना राज्य तक अलका को दे डालता है—सो क्यो? क्या केवल अपनी पराजय के कारण?

स्त्री पात्रो के चरित्र प्राय. एक से ही हैं। अलका, मालविका और कल्याणी सच्ची प्रेमिकाएँ हैं—देश की रक्षा का ध्यान रखती हैं। सुवासिनी—शक्तिशाली की पूजा करती है और कभी राक्षस की आराधना करती है और कभी चाणक्य की। कार्नीलिया भारत से प्रेम करती है और चन्द्रगुप्त से भी। वह प्रेम की मूर्ति है, पवित्र निस्वार्थ प्रेम की।

द्वन्द्व

जिस समय चरित्रों का केवल एक ही अंग उपस्थित किया जाता है उस समय उनमे हमे अन्तर्द्वंद्व नहीं मिलता। चन्द्रगुप्त मे चाणक्य के चरित्र को छोड और किसी मे यह अन्तर्द्वंद्व नहीं दिखाई देता। अवसर आये हैं पर नाटककार ने उनका उपयोग नहीं किया। सुवासिनी ने राक्षस पर अपना प्रेम प्रगट कर दिया, पर राजकोप का डर था। राक्षस के हृदय मे एक हलचल आवश्यक थी।

"एक परदा उठ रहा है या गिर रहा है समझ मे नहीं आता,

(आँखें खोलकर) सुवासिनी ! कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम । मैं हस्तगत कर लूँ ? नहीं राजकोप होगा । परन्तु मेरा जीवन वृथा है । मेरी विद्या, मेरा परिष्कृत विचार सब व्यर्थ है। सुवासिनी एक लालसा है, एक प्यास है । वह अमृत है उसे पाने के लिए सौ बार मरूँगा ।”

केवल इतने में ही अन्तर्द्वन्द्व का अवकाश चला गया । चाणक्य के चरित्र में नाटककार ने अवश्य ही कुछ जटिलता रखी है।' उसके

टोकता है उसे हँस-हँसकर सब बातें बताता है—जैसे वह बात करने मे बडा आनद लेता हो, परन्तु चाणक्य के पूछने पर कि शकटार का कुटुम्ब कहाँ है? वह जैसे एक उदासीन पुरुष हो बात कम करना पसद करता हो। कहता है—"कैसे मनुष्य हो! अरे राजकोपानल में सब जल मरे। इतनी सी बात के लिए मुझे लौटाया था ? छि" क्या वास्तव मे यह "इतनी-सी बात" है।

चन्द्रगुप्त

विकास

चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है, परन्तु चाणक्य के सामने नायक का महत्त्व बहुत ही कम हो गया है। चाणक्य ही घटनाओं का सूत्राधार है—वह विचार है तो चन्द्रगुप्त साधन मात्र। प्रारभ मे अवश्य ही वह कुछ स्वतत्र होकर काम करता है परन्तु बाद मे बिना चाणक्य के वह कुछ भी नहीं कर पाता है। उसके चरित्र मे जो विकास हुआ है वह नायक के महत्त्व को बढ़ानेवाला नहीं। जहाँ प्रथम अक मे वह निर्भीक योद्धा के समान युद्ध करता है, चाणक्य को कार्य-संचालन मे सलाह देता है, वहाँ अन्तिम अक मे वह युद्ध करते हुए घबडाता-सा है। बिना गुरु के उसे अपने बल पर भरोसा नहीं। उसका व्यक्तित्व ही कुछ नहीं रह जाता। इन सब कारणो से चन्द्रगुप्त नाटक का नायक प्रतीत नहीं होता।

आत्म-सम्मान और वीरता

चन्द्रगुप्त के चरित्र के केवल दो पहलू ही नाटककार ने हमारे सामने रखे हैं, पहली उसकी वीरता और दूसरा उसका प्रेम। पहले ही दृश्य मे हम उसे सिंहरण की रक्षा के हेतु आम्भीक के विरुद्ध युद्ध करते देखते हैं फिर तो जब चाहे तब उसकी युद्ध-कुशलता का परिचय मिल जाया करता है—कार्नेलिया के बचाने मे, अपनी स्वतत्रता के लिए,

फिलीपस से द्वन्द्व-युद्ध आदि में।

अपने मान का उसे पूर्ण ध्यान है। चाणक्य से वह कहता भी है, "आर्य, संसार भर की नीति और शिक्षा का अर्थ मैंने केवल यही समझा है कि आत्म-सम्मान के लिए मर मिटना ही दिव्य जीवन है।" यह सिद्धान्त चन्द्रगुप्त अपने जीवन में व्यवहारात्मक रूप में रखना चाहता है। इसी के लिए वह फिलीपस से द्वन्द्व युद्ध करता है, सिकन्दर से युद्ध करता है, अपने को स्वतन्त्र रखता है और चाणक्य की रक्षा करता है।

आत्म सम्मान के लिए वह चाणक्य को भी रुष्ट कर देता है, वह चाणक्य का नियन्त्रण राज्य-शासन में सहन कर सकता है। परन्तु पारिवारिक व्यवस्था में स्वतन्त्र रहना चाहता है।

"यह साधारण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं? केवल साम्राज्य का ही नहीं, देखता हूँ, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण अपने हाथों में रखना चाहते हैं।"

के शासन से मुक्त है। परन्तु उसके सभी कामों में, उसकी बातचीत में एक प्रकार की विह्वलता मालूम होती है, वह स्थिर नहीं है कुछ घबड़ाता सा है। चाणक्य के क्रोधित हो चले जाने पर—

"चन्द्र०—जाने दो-(दीर्घ निश्वास लेकर)—तो क्या मैं असमर्थ हूँ ? ऊँह सब हो जावेगा।"

युद्ध स्थल पर—

"चन्द्र०—हूँ ? सिंहरण इस प्रतीक्षा में है कि कोई बलाधिकृत जाय तो वे अपना अधिकार सौंप दें। नायक ! तुम खड्ग पकड़ सकते हो और उसे हाथ में लिए सत्य से विचलित तो नहीं हो सकते ? बोलो ! चन्द्रगुप्त के नाम से प्राण दे सकते हो ? मैंने प्राण देनेवाले वीरों को देखा है। चन्द्रगुप्त युद्ध करना जानता है। और विश्वास रक्खो, उसके नाम का जयघोष विजय-लक्ष्मी का मंगल गान है। आज से मैं ही बलाधिकृत हूँ, मैं आज सम्राट नहीं, सैनिक हूँ ! चिन्ता क्या ? सिंहरण और गुरुदेव न साथ दें, डर क्या ! सैनिको सुन लो, आज से मैं केवल सेना पति हूँ और कुछ नहीं.... ।"

इतनी बड़ी हार जो सिल्यूकस को सहनी पड़ी उसमें चाणक्य का भारी [illegible]य था। इन सब कारणों से हम चाणक्य को चन्द्रगुप्त का मूलाधार [illegible] सकते हैं। बिना चाणक्य के चन्द्रगुप्त का कोई अस्तित्व नहीं।

7

प्रणयी के रूप में चन्द्रगुप्त कसौटी पर नहीं उतरता। प्रथम अंक तो हम यही समझते हैं कि कर्तव्य-पथ में दृढ़ होने के कारण वह इन प्रेम बन्धनों से दूर भागना चाहता है। परन्तु बाद में हमारी यह धारणा गलत मालूम होती है। स्नातक बनकर लौटने के बाद जब उसकी भेंट कल्याणी से होती है और कल्याणी कहती है, 'परन्तु मुझे

आशा थी कि तुम मुझे भूल न जाओगे" तब चन्द्रगुप्त उस बात का कोई उत्तर ही नहीं देता। वह यह कहकर बात टाल देता है, "देवि! यह अनुचर सेवा के लिए उपयुक्त अवसर पर ही पहुँचा। चलिये शिविका तक पहुँचा दूँ।"

दूसरी बार पर्वतेश्वर और सिकन्दर के युद्ध में जब कल्याणी और चन्द्रगुप्त मिलते हैं और कल्याणी अपने हृदय को खोलकर चन्द्रगुप्त के सामने रख देती है—वह मैदान में आई थी, "केवल तुम्हें देखने के लिए। मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होगे और मुझे भ्रम हो रहा है कि तुम्हारे निर्वासन के भीतरी कारणों में एक मैं भी हूँ" चन्द्रगुप्त फिर भी उदासीन है "परन्तु राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है। इस ज्वाला में स्मृतिलता मुरझा गई है।

कल्याणी—चन्द्रगुप्त!

चन्द्रगुप्त—राजकुमारी, समय नहीं।"

मृत्यु का कारण बताते हुए वह चन्द्रगुप्त से कहती है—यह पशु मेरा अपमान करना चाहता था "परन्तु मौर्य कल्याणी ने वरण किया था केवल एक पुरुष को—वह था चन्द्रगुप्त।" चन्द्रगुप्त जैसे सोकर जाग-सा उठा हो। "क्या यह सच है कल्याणी?" इस हृदय की अस्थिरता को क्या कहा जा सकता है? मालविका से वह प्रेम करता था। उसकी मृत्यु पर उसे दुःख भी हुआ परन्तु इसमें प्रेम के आदर्श की कमी थी। कार्नालिया-प्रणय भी तो उसी समय चल रहा था! यौवन के प्रवेश काल में वह सभी को प्रेम करना चाहता है। इसी कारण नायक होते हुए भी वह हमारे हृदय को आकर्षित नहीं कर पाता क्योंकि इतना अस्थिर मनुष्य हमारी सहानुभूति और शुभाकांक्षाओं का पात्र नहीं हो सकता।

चन्द्रगुप्त का चरित्र अंतिम अंक में अवश्य ही कुछ ऊपर उठा है। वह हमारे सामने एक न्याय-प्रिय राजा के रूप में उपस्थित होता है; परन्तु यहाँ भी चाणक्य अपनी क्षमाशीलता में चन्द्रगुप्त से बहुत आगे बढ़ जाता है।

चाणक्य—"मैं प्रसन्न हूँ वत्स! यह मेरे अभिनय का दण्ड था। मैंने जो आज तक किया, वह न करना चाहिये था; उसी का महाशक्ति केन्द्र ने प्रायश्चित्त कराना चाहा। मैं विश्वस्त हूँ कि तुम अपना कर्तव्य कर लोगे। राजा न्याय कर सकता है, परन्तु ब्राह्मण क्षमा कर सकता है।"

चाणक्य

अन्तर्द्वंद्व

चाणक्य एक दार्शनिक का चित्र है। वह इस सिद्धान्त की रूपरेखा है कि मनुष्य के हृदय होता है। मनुष्य कितना भी क्रूर हो जावे, वह कितना ही नीतिज्ञ हो जावे, अपनी बुद्धि से सभी आकांक्षाओं को दबाने

"जो न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है। स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी स्वेच्छा से इन माया स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।"

उस गुरुकुल मे इतनी बडी घटना हो गई फिर भी उसे क्रोध न आया। केवल राष्ट्र का पतन ही उसे उत्तेजित कर देता है। फिर भी वह शान्त प्रकृति का पुरुष है। परन्तु अदृष्ट तो कुछ और ही सोचे बैठा था। वह अपने घर लौटता है, पिता के अपमान की बात सुनता है, शकटार के साथ अन्यायपूर्ण व्यावहार की कहानी सुनता है और अपने हृदय की मूर्ति सुवासिनी के पतन का दृश्य देखता है। मनुष्य का उत्तेजित होना स्वाभाविक ही है। वह क्रोधित हो उठता है, जल उठता है। फिर भी उसके हृदय की कोमल वृत्तियो का अन्त नहीं हुआ। वह अपने भग्न कुटीर के बाँस को भी जिसके चारो ओर उसके शैशव की स्मृतियाँ लिपट रही थीं, उखाड कर फेक देता है। "शैशव की स्निग्ध स्मृति विलीन हो जा।" नद के द्वार पर वह स्वार्थ के लिए जाता है, परन्तु राष्ट्र की भलाई का प्रश्न छिड गया। परमार्थ के लिए, राष्ट्र के लिए उसने राजा से विनय की लेकिन उसका अपमान हुआ। क्रोधानल और भी भडक गया। वेकुरूर बदी बनाया गया। अब भी प्रेम! अब भी दया! उसके ऊपर कोई भी दया नहीं करता—वह क्यों किसी पर दया करे। वह शपथ लेता है, "दया किसी से न माँगूँगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा।" अभी भी वह सीधा ब्राह्मण ही है। अपने बचाव की सोचता है पर कोई युक्ति नहीं निकाल पाता। कारागार मे जलना भु जना लगा है। हृदय के कोमल भावों को दबाया जा रहा है परन्तु मस्तिष्क का कोई भारी कार्य नहीं हो रहा है।

"समीर की गति भी अवरुद्ध है, शरीर का फिर क्या कहना! परन्तु मन मे इतने संकल्प और विकल्प! एक बार निकलने पाता

तो दिखा देता कि इन दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलटने की शक्ति है और ब्राह्मण के कोमल हृदय में कर्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की भी कठोरता है। जकड़ी हुई लौह श्रृंखले! एक बार तू फूलों की माला बन जा और मैं मदोन्मत्त विलासी के समान तेरी सुन्दरता का भंग कर दूँ! क्या रोने लगूँ? इस निष्ठुर यंत्रणा की कठोरता से बिलबिलाकर दया की भिक्षा माँगूँ! माँगूँ कि 'मुझे भोजन के लिए एक मुट्ठी चने जो देते हो, न दो, एक बार स्वतंत्र कर दो!' नहीं, चाणक्य! ऐसा न करना! नहीं तो तू भी साधारण-सी ठोकर खाकर चूर-चूर हो जानेवाला एक प्राणी हो जायगा। तब मैं आज से प्रण करता हूँ कि दया किसी से न माँगूँगा, और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा। (ऊपर देखकर)—क्या कभी नहीं? हाँ हाँ, कभी किसी पर नहीं। मैं प्रलय के समान अबाध गति और कर्तव्य में इन्द्र के समान भयानक बनूँगा!

हो रहा है इसका पूर्ण ध्यान रखता है। अपनी सफलता के लिए वह भले और बुरे का विचार नहीं करता और सफलता जैसे उसकी अंगुली पर नाचती हो। "चाणक्य सिद्धि देखता है—साधन चाहे कैसे ही हों" मस्तिष्क का हृदय पर अधिकार हो गया।

लेकिन यह परिवर्तन क्यों हुआ? घटनाओं के कारण, नन्द की क्रूरता से पीड़ित होकर—विपत्तियों के बादल में। "पौधे अंधकार में बढ़ते हैं और मेरी नीतिलता भी उसी भाँति विपत्ति तम में लहलही होगी।" दाण्डायन के सदुपदेश से "चाणक्य! तुमको तो कुछ दिनों तक इस स्थान पर रहना होगा, क्योंकि सब विद्या के आचार्य होने पर भी तुम्हें उसका फल नहीं मिला—उद्वेग नहीं मिटा। अभी तक तुम्हारे हृदय में हलचल मची है, यह अवस्था सन्तोषजनक नहीं।" परन्तु हृदय मृतप्राय भले ही हो जावे मरता नहीं। सुवासिनी, कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम अभी भी अपनी स्मृति से मानस में तरंगें उठा देता है। सामने कुसुमपुर को देखकर उसकी स्मृतियाँ फिर हरी भरी हो जाती हैं।

"वह सामने कुसुमपुर है, जहाँ मेरे जीवन का प्रभात हुआ था। मेरे उस सरल हृदय में उत्कट इच्छा थी कि कोई भी सुन्दर मन मेरा साथी हो। प्रत्येक नवीन परिचय में उत्सुकता थी और उसके लिए मन में सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी। परन्तु संसार—कठोर संसार ने सिखा दिया कि तुम्हें परखना होगा। समझदारी आने पर यौवन चला जाता है—जब तक माला गूँथी जाती है तब तक फूल कुम्हला जाते हैं। जिससे मिलने के सम्भार में इतनी धूम-धाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक मनुष्य हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नहीं बनाये रह सकता। मनुष्य की चंचल स्थिति तब तक उस श्यामल कोमल हृदय को मरुभूमि बना देती है। यही तो विषमता है। मैं—अविश्वास, कूटचक्र और छलनाओं का कंकाल, कठोरता का केन्द्र! आह तो इस विश्व में मेरा कोई सुहृद नहीं? है, मेरा संकल्प, अब मेरा आत्माभिमान ही मेरा

मित्र हैं। और थी एक क्षीण रेखा, वह जीवन-पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ? सुवासिनी! न न न, वह कोई नहीं। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूँ। भयानक रमणीयता है। आज इस प्रतिज्ञा में जन्मभूमि के प्रति कर्तव्य का भी यौवन चमक रहा है। तृणशैया पर आधे पेट खाकर सो रहनेवाले के सिर पर दिव्य यश का स्वर्ण मुकुट! और सामने सफलता का स्मृति सौध।"

कितना स्पष्ट अन्तर्द्वन्द्व है। सुवासिनी का ध्यान विजय-लक्ष्मी से भगा जा रहा है—वही विजय लक्ष्मी जिसके लिए मनुष्य को कठोर बनना पड़ता है—अपनी कोमल वृत्तियों का दमन करना पड़ता है। चाणक्य भी वही करता है। कल्याणी प्रेम-वेदी पर बलिदान दे देती है परन्तु उस त्यागी के मुख पर एक क्षीण दुःख की रेखा भी नहीं—वह प्रसन्न ही है।

"चाणक्य—चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कण्टक हुए।

चन्द्र०—गुरुदेव इतनी क्रूरता!

हो रहा है इसका पूर्ण ध्यान रखता है। अपनी सफलता के लिए वह भले और बुरे का विचार नहीं करता और सफलता जैसे उसकी अगुली पर नाचती हो। "चाणक्य सिद्धि देखता है—साधन चाहे कैसे ही हों" मस्तिष्क का हृदय पर अधिकार हो गया।

लेकिन यह परिवर्तन क्यों हुआ ? घटनाओं के कारण, नन्द की क्रूरता से पीड़ित होकर—विपत्तियों के बादल मे। "पौधे अंधकार मे बढ़ते है और मेरी नीतिलता भी उसी भाँति विपत्ति तम मे लहलही होगी।" दाण्डायन के सदुपदेश से "चाणक्य ! तुमको तो कुछ दिनों तक इस स्थान पर रहना होगा, क्योंकि सब विद्या के आचार्य होने पर भी तुम्हे उसका फल नहीं मिला—उद्वेग नहीं मिटा। अभी तक तुम्हारे हृदय मे हलचल मची है, यह अवस्था सन्तोषजनक नहीं।" परन्तु हृदय मृतप्राय भले ही हो जावे मरता नही। सुवासिनी, कुसुमपुर का स्वर्गीय कुसुम अभी भी अपनी स्मृति से मानस मे तरगें उठा देता है। सामने कुसुमपुर को देखकर उसकी स्मृतियाँ फिर हरी भरी हो जाती हैं।

> "वह सामने कुसुमपुर है, जहाँ मेरे जीवन का प्रभात हुआ था। मेरे उस सरल हृदय मे उत्कट इच्छा थी कि कोई भी सुन्दर मन मेरा साथी हो। प्रत्येक नवीन परिचय मे उत्सुकता थी और उसके लिए मन मे सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी। परन्तु संसार—कठोर संसार ने सिखा दिया कि तुम्हे परखना होगा। समझदारी आने पर यौवन चला जाता है—जब तक माला गूँथी जाती है तब तक फूल कुम्हला जाते है। जिससे मिलने के सम्भार मे इतनी धूम-धाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक मनुष्य हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नहीं बनाये रह सकता। मनुष्य की चंचल स्थिति तब तक उस श्यामल कोमल हृदय को मरुभूमि बना देती है। यही तो विषमता है। मै—अविश्वास, कूटचक्र और छलनाओं का कंकाल; कठोरता का केन्द्र ! आह तो इस विश्व मे मेरा कोई सुहृद नहीं ? है, मेरा संकल्प; अब मेरा आत्माभिमान ही मेरा

मित्र है। और थी एक क्षीण रेखा, वह जीवन-पट से धुल चली है। धुल जाने दूँ? सुवासिनी! न न न, वह कोई नहीं। मैं अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त हूँ। भयानक रमणीयता है। आज इस प्रतिज्ञा में जन्मभूमि के प्रति कर्तव्य का भी यौवन चमक रहा है। तृणशैया पर आधे पेट खाकर सो रहनेवाले के सिर पर दिव्य यश का स्वर्ण मुकुट! और सामने सफलता का स्मृति सौध।"

कितना स्पष्ट अन्तर्द्वन्द्व है। सुवासिनी का ध्यान विजय-लक्ष्मी से भरा जा रहा है—वही विजय लक्ष्मी जिसके लिए मनुष्य को कठोर बनना पड़ता है—अपनी कोमल वृत्तियों का दमन करना पड़ता है। चाणक्य भी वही करता है। कल्याणी प्रेम-वेदी पर बलिदान दे देती है, परन्तु उस ब्राह्मण के मुख पर एक क्षीण दुःख की रेखा भी नहीं—वह प्रसन्न ही है।

"चाणक्य—चन्द्रगुप्त आज तुम निष्कण्टक हुए।

चन्द्र०—गुरुदेव इतनी क्रूरता!

चाणक्य—महत्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी में रहता है।"

तो क्या सचमुच सुवासिनी विस्मृत हो गई। नहीं। हृदय मरता नहीं, मृतप्राय हो सकता है। सुवासिनी से फिर भेंट हुई। स्मृतिलता फिर लहलहा उठी—

"चाणक्य—मैं तुमसे बाल्यकाल से परिचित हूँ, सुवासिनी! तुम, खेल में भी हारने के समय रोते हुए हँस दिया करतीं और तब मैं हार स्वीकार कर लेता। इधर तो तुम्हारा अभिनय का अभ्यास ही बढ़ गया है! तब तो..
(देखने लगता है)

सुवासिनी—यह क्या विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में करने का संकल्प रखते हो! फिर अपने को नहीं? देखो दर्पण लेकर—तुम्हारी आँखों में यह कौन सा चित्र है!

प्रस्थान

चाणक्य—क्या ? मेरी दुर्बलता ? नहीं।"

कितना सुन्दर चित्र है। समय ने फिर परिवर्तन कर दिया। सुवासिनी की उपेक्षा ने उसके हृदय को तोड दिया—चन्द्रगुप्त के व्यवहार ने उसे विरागी बना दिया। उसने सब कुछ छोड देने का संकल्प कर लिया।

"चन्द्रगुप्त ! मै ब्राह्मण हूँ। मेरा साम्राज्य करुणा का था, मेरा धर्म प्रेम का था। आनंद समुद्र मे शांतिद्वीप का अधिवासी ब्राह्मण मै। चन्द्र, सूर्य्य, नक्षत्र मेरे दीप थे, अनन्त आकाश वितान था, शस्य श्यामला कोमला, विश्वम्भरा मेरी शैय्या थी। बौद्धिक विनोद कर्म्म था, सन्तोष धन था। उस अपनी, ब्राह्मण की जन्मभूमि को छोडकर कहाँ आ गया ! सौहार्द के स्थान पर कुचक्र, फूलों के प्रतिनिधि काँटे, प्रेम के स्थान मे भय ! ज्ञानामृत के परिवर्तन मे कुमंत्रणा। पतन और कहाँ तक हो सकता है ! ले लो मौर्य्य चन्द्रगुप्त ! अपना अधिकार छीन लो। यह मेरा पुनर्जन्म होगा ! यह मेरा जीवन राजनैतिक कुचक्रों से कुत्सित और कलंकित हो उठा है। किसी छाया-चित्र, किसी काल्पनिक महत्त्व के पीछे भ्रमपूर्ण अनुसंधान करता दौड़ रहा हूँ। शान्ति खो गई, स्वरूप विस्मृत हो गया ! जान गया मै कहाँ और कितने नीचे हूँ !"

सुवासिनी जो स्वयं अपने को देने आई थी उसी सुवासिनी को भी छोड दिया—

"सुवासिनी ! वह स्वप्न टूट गया। इस विजन बालुका सिंधु मे एक सुधा की लहर दौड पडी थी, किन्तु तुम्हारे एक ही भ्रू-भंग ने उसे लौटा दिया ! मैं कंगाल हूँ।"

फिर भी उस विरागी के आँखों मे आसू थे—सुवासिनी के शब्दों ने उसे एक बार फिर विह्वल कर दिया। परन्तु अपनी प्रतिज्ञा पर आसक्त ब्राह्मण के लिए अब कुछ उपाय न था। उसे अपने ब्राह्मणत्व की उप-लब्धि में ही अनंत सुख का सृजन करना था।

"सुवासिनी—(दीनता से चाणक्य का मुंह देखती है)—तो विष्णु-

गुप्त, तुम इतना बड़ा त्याग करोगे। अपने हाथों बनाया हुआ, इतने बड़े साम्राज्य का शासन, हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी को सौंप दोगे! और सो भी मेरे लिए!

चाणक्य—(घबड़ाकर)—मैं बड़ा विलम्ब कर रहा हूँ। सुवासिनी, आर्य दाण्ड्यायन के आश्रम में पहुँचने के लिए मैं पथ भूल गया हूँ। मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवन-दान, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना; सागर के समान कामना-नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न जाना, यही तो ब्राह्मण का आदर्श है! मुझे चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चंद्र देखकर इस रंगमंच से हट जाना है!

सुवासिनी—महापुरुष! मैं नमस्कार करती हूँ! विष्णुगुप्त, तुम्हारी बहिन तुमसे आशीर्वाद की भिखारिन है। (चरण पकड़ती है)

चाणक्य—(सजल नेत्र से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए) सुखी रहो।"

प्रथम अंक का ब्राह्मण अन्तिम अंक के ब्राह्मण में आ गया है—

"मैं आज जैसे निष्काम हो रहा हूँ। विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामने आई। आज मुझे अन्तर्निहित, ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हो रही है।"

यही इस विराट चरित्र का संक्षिप्त इतिहास है, सुन्दर चित्र है, अनुपम प्रदर्शन है।

उपसंहार

प्रसाद की नाट्यकला और उनके मुख्य नाटकों का हम अध्ययन कर चुके हैं। नाटकों के अध्ययन मे हम केवल घटना-सगठन और चरित्र ही देख सके हैं। अतएव यहाँ पर सक्षेप मे उनके आदर्शों का विवेचन किया जा रहा है। नाटककार राष्ट्रीय भावनाओ से ओत-प्रोत था। आधुनिक भारत मे कुछ भी स्पृहणीय नहीं अतएव ससार मे भारत की महानता स्थापित करने के लिए अपना कुछ भारतीत्व बताने के लिए उसे पाठकों को पूर्व युगों मे ले जाना पड़ा है क्योंकि ये ही युग हमारे गौरवपूर्ण इतिहास के चित्र हैं। प्रसाद जी इन चित्रों को उपस्थित करने मे पूर्ण सफल हुए हैं। साथ ही उनका उद्देश्य आज के पतित देश वासियों का आदर्श संगठन रहा है और इसीलिये उनका ध्यान इतिहास की ओर विशेष रहा है। प्रसाद जी ने स्वय ही अपने उद्देश्य को विशाख की भूमिका मे व्यक्त किया है—"इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिये अत्यत लाभ दायक होता है . . . क्योंकि हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है, उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है... मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने कि हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" सम्भवतः इसीलिए उनका ध्यान इतिहास की ओर विशेष रहा है। प्रसाद के नाटकों को साहित्य की वस्तु समझकर हम उनके इतिहास को भूल जाते हैं परन्तु जैसा हम वस्तु-विवेचन करते समय बता आये हैं, उनके लिए इतिहास का स्थान मुख्य है साहित्य का गौण, और यह इतिहास-

प्रेम देश-प्रेम का ही एक रूप था। उसमें अपनत्व बताने की चेष्टा थी। अतएव प्रसाद जी को केवल साहित्यिक समझना अन्याय होगा क्योंकि इस रूप में उनकी रचनाएँ अधिक सफल नहीं हैं। पर देश-सेवा में संलग्न नेता के रूप में वे हमारी राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रित करने में जितने सफल हुए हैं उतना हिन्दी का कोई भी लेखक नहीं। प्रेमचंद जी आधुनिक भारत की दयनीय दशा का चित्रण कर हमारे हृदय में निराशा ही उत्पन्न करते हैं। मैथिलीशरण गुप्त जी ने अवश्य ही अपने काव्यों में प्राचीन भारतीय संस्कृति का चित्रण किया है, परन्तु उनमें आधुनिकता का प्रभाव इतना अधिक है कि गुप्त जी न तो प्राचीन-काल के ही चित्र दे सके हैं और न आधुनिक काल के। नैराश्यपूर्ण वर्तमान और भविष्य में प्रसाद जी के आशावादी नाटक राष्ट्रीय आन्दोलन को अग्रसर करने के अनुपम साधन हैं। मातृगुप्त की ये पंक्तियाँ हमारे उत्साह को आपसे ही आप बढ़ाती हैं—

"वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है वैसा ज्ञान।
वही है शांति वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य संतान।
जियें तो सदा इसी के लिए यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष।"

आधुनिक साम्प्रदायिकता में ही हमारा अवसान है—

"तुम मालव हो और यह मगध। यही तुम्हारे मान का अवसान है न? परन्तु आत्मसम्मान इतने ही से सन्तुष्ट नहीं होगा। मालव और मगध को भूलकर जब तुम आर्य्यावर्त्त का नाम लोगे तभी वह मिलेगा।"

—चन्द्रगुप्त

राष्ट्रीय नेता की इन नाटकों में देश की स्वतन्त्रता के लिए पुकार है, वर्तमान के लिए आशा है और भविष्य के लिए सुखद सन्देश। हम पश्चिमीय आदर्शों की ओर झुके जा रहे हैं, उनमें नवीनता पाते हैं, परन्तु ये सब आदर्श हमारे भारतवर्ष की ही तो देन हैं—

"हिमालय के आँगन में इसे प्रथम किरणों का दे उपहार,
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहिनाया हीरक हार।
जगे हम लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक,
व्योम-तम-पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।"

—स्कन्दगुप्त

"अन्य देश मनुष्यों की जन्म-भूमि है। यह भारत मानवता की जन्म-भूमि है।"

—चन्द्रगुप्त

स्कन्दगुप्त का बौद्ध ब्राह्मण वाला दृश्य हमारी आधुनिक हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों का कितना सुन्दर चित्र है—

"नागरिकगण! यह समय अन्तर्विद्रोह का नहीं। देखते नहीं हो कि साम्राज्य बिना कर्णधार का पोत होकर डगमगा रहा है और तुम लोग क्षुद्र बातों के लिए परस्पर झगड़ते हो।

× × ×

हम लोग निस्सहाय थे, क्या करते? विधर्मी विदेशी की शरण में भी यदि प्राण बच जायँ और धर्म की रक्षा हो।"

इस प्रकार प्रसाद जी का साहित्य केवल देश-सेवा का साधन मात्र था। साहित्य-सेवा उनका प्रथम उद्देश्य नहीं जान पड़ता। अतएव नके नाटकों में केवल साहित्य देखना उनके प्रति अन्याय करना है। पने नाटकों में वे इस आदर्श में पूर्ण सफल भी हुए हैं और इनके ।र जो देश-सेवा उन्होंने की है वह कोई भी हिन्दी ससार में नहीं कर सका है। महात्मा जी ने क्रियात्मक देश-सेवा के क्षेत्र में जो कुछ किया है प्रसाद जी ने वही साहित्य क्षेत्र में। और इस रूप में प्रसाद जी का स्थान हमारे राष्ट्रीय नेता से किसी प्रकार कम नहीं।

परन्तु प्रसाद जी के नाटक साहित्य के ही रूप में देखे जावेंगे। भविष्य में उनकी कृतियाँ साहित्य की कृतियाँ ही रह जावेगी अतएव हमारे सामने यही प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि साहित्य की दृष्टि में

उनके नाटक क्या महत्त्व रखेगे ? नाटकों का विवेचन करते हुए हम देख आये हैं कि प्रसाद जी घटना-सगठन में सफल नहीं हो सके हैं। उनके कथानक बडे जटिल और विस्तृत हैं और इस दृष्टि से प्रसाद जी उत्तम नाटककार नहीं कहे जा सकते। चरित्र-चित्रण में भी वे सफल नहीं हो सके हैं। उनमे प्रतिभा थी देवसेना, स्कन्द, चाणक्य आदि कुछ चरित्र उन्होंने इतने सुन्दर चित्रित किये हैं कि इनके कारण उनकी कृतियाँ अमर रहेंगी, परन्तु घटना विस्तार और पात्र-आधिक्य के कारण अन्य चरित्र उत्तम नहीं हो सके हैं। इस दशा मे प्रसाद जी की रचनाएँ शायद भविष्य मे उतनी आदरणीय न हो सकें जितनी वे आज हैं।

प्रसाद के नाटक उनकी भावुकता के कारण भी पठनीय रहेंगे। शेक्सपियर के समान उनकी उक्तियाँ सभी के मुँह पर रहेंगी। ये उक्तियाँ प्रसाद जी की भावुकता, कल्पना, शब्द-सौष्ठव और रसात्मकता से पूर्ण हैं। वे हमारे लिए नीति का मार्ग भी निर्धारित करती हैं।

"देखती हूँ कि प्राय मनुष्य दूसरों को अपने मार्ग पर चलाने के लिए रुक जाता है और अपना चलना बंद कर देता है।"

—चन्द्रगुप्त

"मनुष्य अपनी दुर्बलता से भली भाँति परिचित रहता है उसे अपने बल से भी अवगत होना चाहिए।"

—चन्द्रगुप्त

"नियति सम्राटों से भी प्रबल है।"

—चन्द्रगुप्त

"महत्त्वाकांक्षा का मोती निष्ठुरता की सीपी मे रहता है।"

—चन्द्रगुप्त

"स्मृति बड़ी निष्ठुर है" "यदि प्रेम ही जीवन है तो संसार ज्वालामुखी है।"

—चन्द्रगुप्त

भावुकता और रचना-विधि मे ये निम्न पक्तियाँ कितनी सुन्दर हैं।

"समझदारी आने पर यौवन चला जाता है—जब तक माला गूँथी जाती है, तब तक फूल कुम्हला जाते है जिससे मिलने के सम्भार मे इतनी धूमधाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक मनुष्य हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नहीं बनाये रह सकता।"

—चन्द्रगुप्त

अनेको उदाहरण उद्धृत किये जा सकते हैं। रसात्मकता और मुख्य चरित्रों के मनोवैज्ञानिक चित्रण के कारण साहित्य मे प्रसाद के नाटको का स्थान सदैव ही ऊँचा रहेगा।

आधुनिक नाटककारो मे तो सख्या और रचना की दृष्टि मे इनका स्थान सर्वोच्च है। क्योकि अभी तक उग्र जी का महात्मा ईसा छोडकर और कोई अन्य प्रसाद के नाटको के समान सुन्दर रचना देखने मे नही आई। सुदर्शन जी का 'अजना' भाषा और काव्य की दृष्टि मे बहुत सुन्दर है परन्तु कथा-सगठन और चरित्र-चित्रण मे वह अधिक सफल नही। माखनलाल जी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' अवश्य ही कुछ सफल कृति है, परन्तु वह प्रसाद के नाटको के समक्ष नही रखी जा सकती।

अभी कुछ वर्षो से आधुनिक नाटककारो ने यथार्थवाद को ही अपना क्षेत्र बनाया है। इन पर इब्सन, गेल्सवर्दी या बर्नार्डशा का प्रभाव है परन्तु इनमे हमे इन पश्चिमी-नाटककारों के समान जीवन की गहराई का चित्रण नही मिलता। प्रसाद जी इस समूह से अलग हैं।

भविष्य मे क्या होगा? यह तो भविष्य के गर्भ मे ही है। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्रसाद के नाटक उस समय भी साहित्य की देन ही रहेंगे, यद्यपि अभी तो नाटकों का भविष्य ही सन्देहात्मक है।

अनुक्रमणिका

साहित्य भवन लिमिटेड प्रयाग की एजेंसियाँ

---

१ आगरा पब्लिशिंग हाउस, बाग़ मुजफ्फर ख़ाँ, आगरा
२. इंडियन प्रेस लिमिटेड, सारदानन्द पार्क, कानपुर
३. पुस्तक स्थान, बरेली।
४ पुस्तकस्थान गोरखपुर।
५. इडियन प्रेस लिमिटेड, जबलपुर।
६. इडियन प्रेस लिमिटेड, गनपत रोड, लाहौर।
७. इडियन बुक डिपो, आदित्य भवन, लखनऊ।
८ इंडियन प्रेस लिमिटेड, बाँकीपुर पटना।
९. राजपूताना बुक हाउस, अजमेर।
१०. साहित्य मन्दिर, पुरानी कोतवाली, झाँसी।
११. इंडियन प्रेस लिमिटेड, कोर्ट रोड राँची।
१२. दी सुरेश ट्रेडिंग कम्पनी, खँडवा सी० पी०।
१३ इंडियन पब्लिशिंग हाउस, नई सड़क, दिल्ली।

सस्कृति के विकास के साथ ही साथ इन अभिनयो मे साहित्य की पुट भी दी जाने लगी।

भारतवर्ष के नाट्य साहित्य का उद्भव काल ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के परे अधकार मे छिपा हुआ है। वह किस समय विकसित हुआ यह ठीक रूप से नही कहा जा सकता। प्रारभ मे इसकी रूपरेखा क्या थी, यह केवल कल्पना से ही या अन्य देशो के नवजात नाट्य साहित्य के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। यूनान और चीन के नाट्य साहित्य का जन्मकाल, उनकी शैशवावस्था तथा किशोरावस्था के विषय मे हमारे पास प्रचुर सामग्री है। अतएव यूनान और चीन के साहित्यिक आधार पर ही हम भारत के प्रारभिक नाट्य साहित्य की कल्पना कर सकते हैं।

बहुत पहले यूनान देश मे डायोनिसस देवता की पूजा करने के लिए लोगो ने अजा गीतो की रचना की थी। डायोनिसस हमारे यहाँ के गणेश जी के समान अर्द्ध मानव और अर्द्ध पशु थे। अन्तर केवल इतना ही था कि उनका मुँह मानवी था और देह अजा की। इसी कारण अजा-गीत गाते समय, गायक बकरी का चमडा अपने ऊपर ओढ लिया करते थे। अजा-गीत वास्तव मे प्रार्थना ही थी और गाने के रूप मे एक-दो पात्रो द्वारा कही जाती थी। धीरे-धीरे ये गीत परिवर्तित होकर ट्रेजडी या दु खान्त नाटकों के नाम से प्रसिद्ध हो गये। सुखान्त नाटकों का भी प्रादुर्भाव इसी रूप मे हुआ था। होली जैसे [illegible] उत्सवो पर लोग गाड़ियों मे बैठकर अश्लील गीत गाते थे [illegible] रास्ते चलते तमाशबीनो पर व्यग कसते जाते थे। यही अश्लील [illegible] धीरे-धीरे परिष्कृत होकर सुखान्त नाटको के रूप मे आ गये।

[illegible]त नाटको का इतिहास

नाटकीय उद्भव के इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारे यहाँ वैदिक-काल मे ही नाटक रचना होने लगी थी, परन्तु उसके

वास्तविक रूप का हमे पता नही। महाभारत और रामायण-काल मे हमे दो एक नाटकों के नाम मिलते हैं, परन्तु उन नाटकों की प्रतियाँ अभी तक प्राप्त नहीं हुई। नाटकों का ऐतिहासिक ज्ञान हमें व्याकरणाचार्यों के समय से मिलता है। पाणिनी के कथानुसार उनके बहुत पहले ही भारतवर्ष मे नाट्य साहित्य पर लक्षण ग्रन्थ आदि बन चुके थे। अतः यह स्वय-सिद्ध है कि व्याकरण-काल तक यहाँ पर नाटकों का इतना प्रचार हो गया था कि लोगों ने उनके विषय में नियमादि बनाना प्रारभ कर दिया था। पाणिनी का समय लगभग ३०० ई० पू० माना जाता है, इसलिए भारतवर्ष मे ईसा के कई शताब्दी पूर्व से ही नाटक रचना होने लगी थी। कालिदास का समय जो पहले नाटकों का बालकाल समझा जाता था, वास्तव मे नाटकों के विकास का मध्य युग था। यद्यपि यह सत्य है कि कालिदास के पूर्व के नाटकों का ज्ञान न होने से नाट्य साहित्य का अध्ययन कालिदास के ही समय से प्रारभ होता है।

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी तथा शकुन्तला तीन बहुत ही उत्तम और विश्वविख्यात नाटक लिखे। शकुन्तला तो कवि की अमरकृति है जो कई भाषाओं मे अनूदित भी हो चुकी है। कालिदास के उपरान्त श्री हर्ष ने नागानद और रत्नावली नाटक लिखे तथा श्री शूद्रक ने मृच्छकटिक नामी एक सुन्दर और सर्वांगपूर्ण नाटक लिखा। इनके पश्चात् ८वीं शताब्दी मे महाराज यशोवर्धन के राज-कवि भवभूति ने नाटकशास्त्रों के नियमों मे विशदता और सशोधन-सा करते हुए अपने कई उत्तम नाटक लिखे जिनमे उत्तर रामचरित, महा-वीर-चरित और मालती माधव विशेष प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अपने नाटकों मे नाटकीय सिद्धान्तों का उल्लघन भी यथेष्ट किया। परन्तु कवि की प्रतिभा ने कहीं भी इनकी कला को नीरस या शक्तिहीन नहीं बनाया।

९वीं शताब्दी में भट्ट ने और विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस नाटक लिखे। इनके उपरान्त राजेश्वर ने बालरामायण और कर्पूरमजरी की रचना की।

इस समय भारत पर यवनों के आक्रमण होने लगे थे और धीरे-धीरे हर्ष का विस्तृत साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। आपसी वैमनस्य ने भारतवर्ष को छोटे-छोटे राज्यों मे विभक्त कर दिया। द्वेष और प्रतिहिंसा के कारण हिन्दू राजा एक दूसरे के शत्रु बन गये। हिन्दू साम्राज्य का यह अवसान-काल था जिसके साथ ही साथ भारतीय सस्कृति, भारतीय कला और भारतीय साहित्य भी नष्ट हो रहा था। सस्कृत नाटकों का जो जाज्वल्य-मान मध्यान हमे कालिदास के समय मे मिलता है, उसकी अस्त होती हुई रूप-रेखा हमे बालरामायण और कर्पूरमजरी मे समझना चाहिए। यवन आक्रमणो के कारण सस्कृत साहित्य अधकार के गर्त मे विलीन हो गया और यद्यपि यत्र-तत्र कुछ सस्कृत साहित्यिको ने अपने धुँधले प्रकाश से नाट्य साहित्य को आलोकित करने का प्रयत्न किया था, परन्तु उनमे रवि का तेज न था। उनकी मलिन ज्योति झिल-मिलाते हुए ताराओं और नक्षत्रो का ही प्रकाश था। मुसलमानी आक्रमणों के पश्चात् सस्कृत साहित्य फिर से गौरवान्वित न हो सका।

हिन्दी साहित्य मे नाटक

११वीं शताब्दी हिन्दी का विकास काल था और उस काल के कवियो ने इसी नई भाषा को अपनी कृतियो मे अपनाया। सस्कृत उनके लिए मृत भाषा हो चुकी थी। अतएव इस काल म सस्कृत नाट्य [illegible]हित्य की रचना समाप्त हो गई। मुगलो के शासन काल मे साहित्य के अग की उन्नति न हो सकी, क्योकि एक तो समय और परिस्थितियाँ के प्रतिकूल थी और दूसरे मुगल सस्कृति और धर्म मे नाट्य [illegible]हत्य के प्रति प्रेम न होने के कारण नाटकों को राजकीय प्रोत्साहन नहीं मिला। कभी-कभी हिन्दू महाराजाओं के यहाँ रामलीला या [illegible]रासलीला-मडली अपने खेल तमाशे किया करती थी, लेकिन उनमे धार्मिक प्रवृत्ति ही अधिक थी, साहित्यिक रुचि कम। अत. हिन्दी मे जहाँ कविता इतनी उन्नति कर गई, जहाँ उसका [illegible] सा[illegible]

काफी हो गया वहाँ एक या दो साधारण नाटकों को छोड कर नाट्य साहित्य की रचना १६वी शताब्दी तक प्रारम्भ न हो सकी।

हिन्दी मे नाटक रचना भारतेन्दु-काल से ही प्रारभ होती है। कहा जाता है कि हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक नहुष भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के पिता श्री गोपालचन्द्र जी ने ब्रजभाषा मे लिखा। इसके अनन्तर राजा लक्ष्मणसिंह जी ने बोलचाल की भाषा मे कालिदास के शकुन्तला नाटक का अनुवाद उपस्थित किया। परन्तु नाटक लिखने की सच्ची प्रेरणा भारतेन्दु के ही हृदय मे हुई और इन्होंने साहित्य के इस अग की यथाशक्ति सेवा की। कुल छोटे-बडे सब मिलाकर ३० नाटक इन्होंने लिखे। जिनम से कुछ तो न्यूनाधिक रूप मे सस्कृत नाटकों के अनुवाद हुए, कुछ छायानुवाद या उन पर समारित हैं। इनके कुछ नाटक मौलिक भी हैं, लेकिन इनकी सब से बडी मौलिकता खडी-बोली के प्रचार मे थी। और (इस प्रकार हिन्दी नाटकों का जन्म हुआ।)

हिन्दी मे नाटकों का जन्म अनुवाद और समानुवाद मे होना कोई आश्चर्यजनक नहीं है। क्योंकि प्राय ८०० वर्षों के पश्चात् नाटकीय सिद्धान्तों और उपकरणों को जनता और लेखकों के सामने बिलकुल मौलिक रूप मे उपस्थित करना असभव ही था। इस कारण नवीन उत्साह उत्पन्न करने के लिए अनुवादों और छायानुवादों की सब से बडी आवश्यकता रहती है। भारतेन्दु जी ने नाट्यशास्त्र के नियम-उपनियमों पर भी कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था और साथ ही साथ इन्होंने बंगला और अँग्रेजी नाट्यशास्त्रों का उपयोग भी अपनी कृतियों मे किया था लेकिन इनका अधिक झुकाव सस्कृत नाट्यशास्त्र की ओर ही रहा। इसी काल मे देहली के श्रीनिवासदास जी ने रणधीर-प्रेममोहिनी नाटक लिखा जो विस्तार के कारण रगमच के योग्य न था। उसका शिष्ट हास्य ही नाटक का प्राण है। प० बद्रीनारायण कृत भारत-सौभाग्य मे भी यही दोष आ गया है। नाटक काफी लम्बा है और ६० पात्रों का अभिनय मे भाग लेना नाटकीय दृष्टि से एक

कठिन समस्या है। इसी समय पं० बालकृष्ण भट्ट, लाला सीताराम जी और राधाकृष्णदास जी ने भी कुछ नाटक लिखे लेकिन इनमे, राधा-कृष्णदास जी का 'महाराणा प्रताप' ही सर्वांग सुन्दर है और वह सफलता से अभिनीत भी हो चुका है।

अनुवाद की पद्धति तो पहले से चली आ रही थी लेकिन द्विवेदी-युग की अनूदित कृतियाँ बहुत ही सुन्दर और भावपूर्ण हैं। लाला सीताराम जी ने संस्कृत के नाटको का अनुवाद किया जिनमे नागानंद, मृच्छकटिक, महावीर-चरित, मालती-माधव और उत्तर-रामचरित बहुत ही सफल अनुवाद हुए हैं। भाषा सरल और प्रवाहयुक्त है। मूल के भावों के फेर मे पड़कर अनुवादक ने भाषा को क्लिष्ट और अर्थहीन नहीं बनाया है। श्री सत्यनारायण जी ने मालती-माधव और उत्तर-रामचरित का अनुवाद किया। कविताओं का अनुवाद पंडित जी ने बड़ी भावपूर्ण ब्रजभाषा मे किया है, लेकिन मूल के भावो को यथा-शक्ति अनुवादित करने मे इनकी भाषा कई जगह क्लिष्ट हो गई है। श्री रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गहमरी और रूपनारायण पांडे जी ने द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीशचन्द्र घोष के नाटको के अनुवाद हिन्दी मे प्रस्तुत किये। इन अनुवादो मे पांडे जी का दुर्गादास बहुत ही सुन्दर है। अन्य भाषाओं से भी अनुवाद होना प्रारंभ हुआ जिनमे महाराष्ट्र भाषा के छत्रसाल नाटक का विशेष आदर हुआ।

अभी तक साहित्यिक नाटक हिन्दी मे नहीं लिखे गये थे, लेकिन जनता की रुचि नाटको की ओर काफी बढ चली थी। पारसी नाटक कंपनियों के नाटक हिन्दी और उर्दू की खिचड़ी रहा करते थे जिनमे पद्य और गद्य का विचित्र सम्मेलन होता था। गद्य मे बोलते-बोलते पात्रों का पद्य का आश्रय लेना स्वाभाविक समझा जाता था। देश, काल और पात्रो का भी विचार न रक्खा जाता था। वास्तविकता और स्वाभाविकता की ओर ध्यान देना दर्शको की करतल ध्वनि के सामने अधिक प्रशंसनीय न था। और यह करतलध्वनि, शेरबाजी मे प्रत्येक

शेर के बाद मिल जाया करती थी। ऐसे रंगमञ्च और जनता मे न तो जनता की रुचि ही परिष्कृत हो सकती थी और न साहित्यिकों का प्रयत्न ही सफल हो सकता था। पारसी कपनियों के लेखकों मे प० हरीकृष्ण जौहर ही पहले लेखक थे जिन्होंने महाभारत नामक नाटक कलकत्ता की पारसी कम्पनी द्वारा खिलाकर भारतीय विषयो की ओर इन कम्पनियों का ध्यान आकर्षित किया। प० राधेश्याम कथावाचक जी भी इन्हीं श्रेणियों के नाटककारों में से हैं इनके एक दो नाटक कुछ उच्च श्रेणी के भी हैं।

प्रसाद जी हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम मौलिक नाटककार हुए। इन्होंने एक ओर तो प्राचीनता का ध्यान रखा, दूसरी ओर अँग्रेजी और बँगला साहित्य से प्रभावित होकर नवीन मार्ग ग्रहण किया। इस तरह इनकी नाट्यशैली प्राचीन और अर्वाचीन नाट्यशैली की सम्मेलनभूमि है। एक ओर न तो आप पूर्ण आधुनिक ही हैं और न दूसरी ओर नितात प्राचीन। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में जन्म लेने और बीसवीं शताब्दी मे कला-विकास होने के कारण उनकी रचनाओं और चरित्र मे १९ वीं और २० वीं दोनों शताब्दियों के उपकरण दिखाई देते हैं।

> "उन्नीसवीं शताब्दी ने उन्हें रोमांस के प्रति झुकाव, मस्ती, विलासितापूर्ण सरसता और झंझटों से यथासम्भव अलग रख कर सामान्य सुख के साथ जीवन विताने के भाव प्रदान किये और बीसवीं शताब्दी ने उन्हें यौवन का प्रवाह, परिवर्तनोन्मुखी प्रवृत्ति, भारतीयता की ओर झुकाव, विदग्धता तथा अस्थिर वेदना का दान दिया।"[1]

नाटकों के अन्तर प्रवाह मे इस वास्तविकता और आदर्श का अनूठा मिलन है। जिसने प्रसाद के नाटकों को एक मौलिक रूप दे

---

[1] सुमन जी—'कवि प्रसाद की काव्य-साधना।'

दिया है। इनकी नाट्यशैली पूर्व और पश्चिम से प्रभावित अवश्य है परन्तु उसमे मौलिकता भी है।

प्रसाद में पूर्व और पश्चिम

आधुनिक नाटको मे पश्चिमी प्रभाव

आधुनिक हिन्दी नाट्य रचनाओ पर मुख्यतः बगाली, अँगरेजी और सस्कृत नाट्यशास्त्रों का ही प्रभाव पड़ा है। इसके अभी तक कोई भी मौलिक सिद्धान्त नही। हिन्दी नाटक की यह शैशवावस्था ही है। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि वह दूसरों के सहारे चलने का प्रयत्न करे। कही कही कुछ नाटककारो ने अपनी प्रतिभा के बल पर अपनी मौलिकता रखने का प्रयत्न किया है, परन्तु ऐसे उदाहरण कम ही हैं जहाँ पर उनकी मौलिकता अधिक सफल हो सकी हो। मुख्यतः अँगरेज़ी नाटको का ही प्रभाव आधुनिक नाटककारो पर अधिक है क्योंकि आधुनिक शिक्षा मे अँगरेजी का स्थान प्रमुख होने के कारण सभी लोग उसके साहित्य से भिज्ञ हैं। दूसरे, बगाली साहित्य जो बहुत अंशो मे अँगरेजी नाटकीय सिद्धान्तो से प्रभावित हैं, भारतेन्दु काल से ही हिन्दी लेखको को अपनी ओर खीचने लगा था। इस प्रकार हिन्दी नाटको पर बगाली साहित्य के द्वारा अग्रेजी साहित्य का अप्रत्यक्ष [illegible]भाव बहुत दिनो से रहा है। यहाँ एक बात स्मरणीय है कि यूनानी [illegible] अर्वाचान अँगरेजी नाट्य-सिद्धान्त भारतीय नाट्यशाला के अनु- [illegible] नहीं हैं। इसलिए अँगरेजी के एलिजाबेथ कालीन नाटककारों का प्रभाव हिन्दी मे अधिक देखने को मिलता है। शेक्सपियर और [illegible] समकालीन नाटककार अपने नाटकीय आदर्शो और सिद्धान्तो [illegible] सस्कृत नाट्यशास्त्र के अधिक समीप हैं। उनका वातावरण भारतीय सस्कृत नाटको के रोमान्टिक वातावरण के समान ही रहा है। यही कारण है कि इब्सन, शॉ और गाल्सवर्दी आदि का प्रभाव राय तथा अन्य बगाली नाटककारो मे कम ही दिखाई देता है। हिन्दी मे इब्सन

के नाटकों के अनुवादो को छोड कर अभी तक कोई भी ऐसी कृति नहीं जो अंग्रेजी साहित्य के आधुनिक मनोवेगो से भरी हुई हो। हाँ, एकाकी नाटको की बहुलता अवश्य ही आधुनिक पश्चिमीय एकाकी नाटको के कारण है और सामाजिक समस्याओं, कथासगठन, भाषा और वातावरण मे वे उन्हीं के सदृश हैं; लेकिन नाटकों पर उनका प्रभाव नहीं के बराबर है। यत्र-तत्र कुछ प्रयत्न भी इस ओर किये गए हैं, परन्तु वे अधिक सफल नहीं कहे जा सकते।

प्रसाद जी की नाट्य-रचना बगाल के द्विजेन्द्रलाल राय के नाटको से अधिक प्रभावित है और राय बाबू के नाटक स्वय ही पश्चिमी प्रभावो मे ओत प्रोत हैं। अतएव प्रसाद जी की रचनाओं मे पश्चिमी नाट्य-सिद्धान्तों के उपकरणों का होना स्वाभाविक ही है। साथ ही अपनी रुचि और सस्कृति के कारण प्रसाद जी सब से अधिक भारतीय भी हैं, इसलिए प्रसाद जी की नाट्य-कला एक रूप से पूर्व और पश्चिम नाट्यशास्त्रों की सम्मेलन-भूमि है जिसको उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल पर बहुत कुछ नया रूप दे डाला है।

संस्कृत नाटकों में कारुण्य

सस्कृत नाटकों का निर्माण धार्मिक नींव पर ही हुआ है। धर्म के सिद्धान्त ही नाटक के उपकरणों मे बिखरे हुए थे। अध्यात्मवाद मे ओतप्रोत राष्ट्र के लिए यह स्वाभाविक ही था कि उसका साहित्य भी अध्यात्मवाद का ही एक रूप हो। अतएव गीता में बतलाये हुए

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ॥

\+ \+ \+

न जायते म्रियते न कदाचन न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

कर्म की प्रधानता और आत्मा की नित्यता मे विश्वास सस्कृत साहित्य के प्रत्येक अग पर अपना अस्तित्व जमाये हुए हैं। हमारा जीवन हमारे

पूर्वकर्मों का फल है यदि हम सुखी हैं तो यह सुख हमारे पुण्यकर्मों का पुरस्कार है और दुःख हमारे नीच कर्मों का दण्ड। ईश्वर ही हमारे कर्मों की परख करता है। नित्य अच्छे कर्म करने पर आत्मा नित्यप्रति उन्नति करती हुई मोक्ष पाकर आवागमन के बन्धनों से छूट जाती है। जब तक आत्मा में पूर्ण शुद्धता नहीं तब तक निर्वाण उसके लिए सम्भव नहीं। भिन्न-भिन्न रूप, भिन्न-भिन्न जीव उसी एक सत्ता के रूप हैं - सब में हमारी यही आत्मा विद्यमान है। पुण्यकर्म करने पर आत्मा एक शरीर छोड़ अच्छे शरीर को धारण करती है। आत्मा परमात्मा का ही अंश है, वह नित्य है अमर है। कर्म की प्रधानता और आत्मा की नित्यता में विश्वास करने के कारण संस्कृत नाटकाचार्यों के सिद्धान्त यूनानी नाटकाचार्यों से भिन्न हो गये। संस्कृत नाटकों में यूनानी नाटकों के समान दुखान्त नाटक नहीं है, क्योंकि यहाँ पर मृत्यु इतनी अधिक दुखदायी नहीं जितनी पश्चिम में। मृत्यु होना केवल आत्मा का एक वस्त्र त्याग कर दूसरा वस्त्र धारण करना ही तो है! जब तक चौरासी लाख योनियों का चक्र जीवात्मा पूरा न करेगी तब तक उसे मोक्ष कहाँ? मृत्यु हमें हमारे अन्तिम उद्देश्य की ओर ही तो ले जाती है—वह तो केवल नये जीवन का सन्देश ही है। फिर मृत्यु से दुख क्यों? यही कारण है जिसमें संस्कृत नाटकों में हमें यूनानी जैसे दारुण दुखान्त नाटक नहीं मिलते।

आपत्तियों का सामना करना प्रत्येक महान् पुरुष का कर्त्तव्य है। वही तो सोने की परख बताती है, "कष्ट हृदय की कसौटी है। तपस्या अग्नि है"—देवसेना। इस कारण जो जितनी आपदाओं का सामना करेगा उसकी आत्मा उतनी ही अधिक दीप्यमान् होगी। आपत्तियाँ दुःख के नहीं, सुख के कारण हैं। उनमें दुःख देखना अपनी आत्मा के प्रति अपराध करना है। आपदाएँ मोक्ष का सुगम पथ हैं, हमारी परीक्षा का उत्तम साधन। दूसरे हमारे इस जीवन का दुःख हमारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल है जिसे हमें भोगना ही पड़ेगा। वह हमारे दुष्कर्मों

का परिणाम है, आत्मा की मलिनता धोने के लिए हमें कष्ट सहने ही होंगे। शकुन्तला की आपत्तियाँ उसके अतिथि-सत्कार में भूल होने के फलस्वरूप थीं। देवी सीता की करुणावस्था उनके पूर्वजन्म की भूल का दण्ड थी। इसी कारण ही इन देवियों की करुण गाथा इन नाटककारों के हृदय को अधिक न हिला सकी।

फिर भी मृत्यु और आपत्तियाँ संसार की कठोर समस्याएँ हैं। अतः संस्कृत नाटकाचार्यों ने मृत्यु का रंगशाला पर दिखाना वर्जित कर दिया है क्योंकि उनके आदर्शानुसार साहित्य का उद्देश्य सुख और शान्ति का संदेश देते हुए जीवन का आदर्श स्थापित करना है। इस कारण भी संस्कृत में दुखान्त नाटकों की रचना नहीं हुई। करुण-रस नाटकों में अवश्य रहता था लेकिन उसमें वह तीव्रता न रहती थी जो शेक्सपियर की ट्रेजडियों में हमें मिलती है। प्रसाद जी के तीनों ऐतिहासिक नाटक करुण रस से परिपूर्ण हैं। और यद्यपि चन्द्रगुप्त का अन्तिम अंक सुखान्त है, परन्तु स्कन्द और अजातशत्रु में सुख और सफलता के सागर में करुण रस की हिलोरें ही उठती दिखाई देती हैं। स्कन्दगुप्त के अन्तिम दृश्य में जो करुणता व्याप्त है, वह वैराग्य का भाव हमारे हृदय में उत्पन्न कर देती है। देवसेना और स्कन्द का त्याग, उनके जीवन में आये हुए घोर नैराश्य के फलस्वरूप ही तो है।

> "हृदय की कोमल कल्पना! सो जा, जीवन में जिसकी सम्भावना नहीं। जिसे द्वार पर आये हुए लौटा दिया था उसके लिए पुकार मचाना क्या तेरे लिए कोई अच्छी बात है? आज जीवन के भावी सुख, आशा और आकांक्षा—सब से मैं विदा लेती हूँ। • "

परन्तु यह समाप्त शेक्सपियर के अन्तिम दृश्यों से कितना भिन्न है—इसमें शोक नहीं, दुख नहीं, हृदय को हिला देने वाली करुण कथा नहीं—केवल जीवन का महान आदर्श रखते हुए शान्ति में उसकी समाप्ति है। हृदय इस लोक को छोड़ अन्य लोक में जा पहुँचता है।